आत्म-प्रसङ्ग

(आत्मतत्व सम्बन्धी गम्भीर मननीय तथा कल्याणकारी)

लेखों का संग्रह

लेखक

अनिकेत श्री पूज्यचरण श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य
ब्रह्मनिष्ठ श्री १००८ श्री स्वामी शङ्करतीर्थजी महाराज

सम्वत् २०१३ विक्रमीय

पुनर्मुद्रणार्थं
दक्षिणा १)

✱ श्री श्री गुरुः ✱

आत्म-प्रसङ्ग

✱

लेखकः—

परमाराध्यपाद अनिकेतनवासी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य श्री १००८ शङ्कर स्वामीजी
श्री श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज

✱ ✱ ✱

प्रथमावृत्ति } १९०० } सम्वत् २०१३ वि० सन् १९५६ ई० { पुनर्मुद्रणार्थ दक्षिणा ।)

विज्ञप्ति

पूर्वी पंजाब जिला काङ्गड़ा तहसील पालमपुर के अन्तर्गत ठाकुरद्वारा डाकघर के अधीन 'मन्सिम्बल-सलोह टी एस्टेट्' के मैनेजिंग प्रोप्राइटर ठाकुर श्रीबलवन्तसिंह वर्मन अपने स्वर्गीय पूजनीय पितृदेव ठाकुर श्रीरेवतरामजी की आत्मा की चिरशान्ति-कामना से इस धार्मिक ग्रन्थ का सम्पूर्ण मुद्रण-व्यय सहर्ष वहन कर अपनी धर्मनिष्ठा, पितृभक्ति, श्रीगुरुभक्ति तथा उदारता का परिचय देकर विशेष पुण्यभागी हुआ है। परमात्मा से प्रार्थना है कि वे कल्याणास्पद बलवन्त के हृदय में वैराग्ययुक्त भक्तिरूप से प्रकट रहकर उसका यह अमूल्य मानव जन्म सफल करने की महती कृपा करें। इति

'श्रीगुरुमन्दिर'
मन्सिम्बल चाय बाग
ठाकुरद्वारा (काङ्गड़ा)

सर्वशुभानुध्यायी
श्रीशङ्करतीर्थ स्वामी
पार्श्वैकादशी, सं० २०१२

विषय-सूची

लेख-सूची		पृष्ठ
१—आत्म कथा	...	१
२—आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं	..	१७
३—अध्यास	...	२२
४—अध्यास विषयक प्रश्नोत्तरी	...	३१
५—परमार्थ सत्य	...	५७
६—सृष्टि	...	७५
७—दृष्टि सृष्टिवाद	...	८१
८—वेदान्तोक्त सृष्टि क्रम	...	८६
९ रज्जु-सर्प भ्रम	....	९४
१०—ख्याति पंचक	...	९९
११—विचार साधन	...	१०५
१२—महावाक्यार्थ निर्णय	...	११६
१३—श्रुति प्रदर्शित साधना	...	१२६
१४—देहत्रय-शोधन	...	१३१
१५—लय चिन्तन	...	११५
१६—प्रणव-चिन्तन द्वारा निर्गुण ब्रह्मोपासना	...	११८
१७—ब्रह्मकथा	...	१४४
१८—ब्रह्मज्ञान	...	१६८
१९—ब्रह्मविद् का स्वरूप	...	१८०
२०—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"	...	१८६
२१—आत्मदर्शन का फल	...	१९३

———

प्रकाशक—

पं० श्रीरोशनलाल शर्मा, शास्त्री, एम०, ए० प्रभाकर (हिन्दी)
'श्रीगुरुमन्दिर'सलोह, पालमपुर, जि० काङ्गड़ा ।

पुस्तक प्राप्तिस्थान—

१) प्रकाशक ।

२) वैद्य श्रीरूपलाल शर्मा, वैद्यरत्न, पो० ठाकुरद्वारा, पालमपुर, काङ्गड़ा ।

३) ठा० श्रीबलवन्त सिंह वर्मन, मैनेजिंग प्रोप्राइटर । मन्‌सिम्बल टी स्टेट, पो० ठाकुरद्वारा (काङ्गड़ा) ।

४) श्रीजगदीशप्रसाद सिन्हा, एलेक्शन हेड क्लर्क—हरदोई (उत्तर प्रदेश) ।

५) श्रीहृदयराम मिश्र बी०ए०, आर्यनगर-मोतीनगर रोड, लखनऊ (उत्तर प्रदेश) ।

६) श्रीबाबूलाल गुप्त, 'श्याम', स्थान पो० सण्डीला, जि० हरदोई (उत्तर प्रदेश) ।

७) श्रीलालमोहन मुखर्जी, विद्यानिधि, विद्यारत्न, तत्त्व विनोद, एम०ए०, बी०एल०, 'श्रीधर धाम' बिलासी नगर, पो० वैद्यनाथ-देवघर (एस० पी बिहार)

---

* श्री गुरुः *

प्रकाशक का निवेदन

मैं अपने को परम सौभाग्यशाली समझता हूँ कि परमाराध्य श्री श्रीगुरुदेव भगवान् ने मुझ सरीखे तुच्छ व्यक्ति पर परम कृपा करके इस तत्त्व बहुल गम्भीर ग्रन्थरत्न को प्रकाशित करने का आदेश दिया है। यह ग्रन्थ श्रीमहाराजजी के कुछ लेखों का संग्रह है। यह लेख काशीपुरी के सुप्रसिद्ध सनातनी समालोचनात्मक साप्ताहिक पत्र 'सिद्धान्त' में संवत् १९९८ से २००७ तक के अङ्कों में प्रकाशित हुये थे तथा 'विचार-साधन' और 'ब्रह्मविद्का स्वरूप' सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'कल्याण' के विशेषाङ्क 'साधनाङ्क' (वर्ष १५।१ संवत् १९९७) तथा वर्ष २२।७ संवत् २००५ में निकले थे। आत्म तत्त्व के जिज्ञासु के लिये वह ग्रन्थ साक्षात् श्रीगुरुरूप ही है। साधन तथा सिद्धान्त सम्बन्धी उच्चकोटि की सभी ठोस सामग्री इसमें आ गई है तथा गम्भीर विषयों का रहस्योद्घाटन तो इसमें बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। आत्म तत्त्व विषयक सर्व प्रकार की शङ्काओं की शास्त्रीय तथा अनुभव मूलक सरल मीमांसा इस ग्रन्थ की विशेषता है।
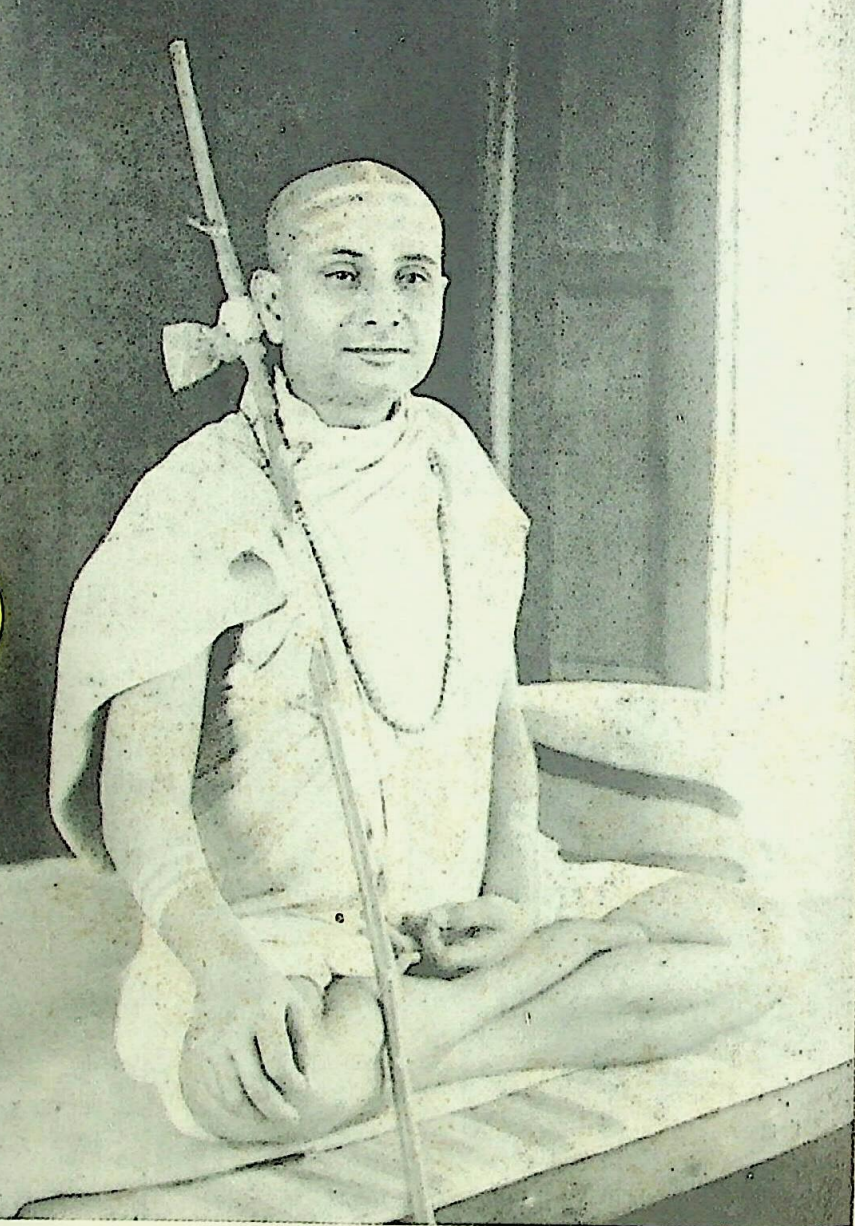
परमाराध्यपाद अनिकेतनवासी श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य
श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री१००८ शङ्कर-स्वामीजी
श्रीशङ्करतीर्थ जी महाराज

१

आत्म-कथा

आत्मा देश और काल द्वारा परिच्छिन्न न होने से और उसका ध्वंस तथा प्रागभाव ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिये और अनात्म वस्तुओं के जड़ होने से, आत्मभिन्न वस्तु के आत्मा न होने से आत्मा एक होने पर भी प्रत्येक में सुख दुःखादि के आश्रय अन्तः-करणों का भेद स्वीकार करके बन्ध-मोक्ष प्रभृति निखिल व्यवस्था की उपपत्ति सम्भव होने से, स्वयं अपने आपके अभाव के ग्रहण का विरोध होने से, ग्राह्य काल में वह ग्राहक न बनने से तथा ग्राहक होने के समय ग्राह्य न बनने एवं कृतहानि तथा अकृताभ्यागम दोष उपस्थित होने के कारण आत्मा का ध्वंस तथा प्रागभाव नहीं है---आत्मा का विनाश नहीं है–आत्मा अविनाशी, नित्य है। सत्स्वरूप आत्मा सर्वत्र अनुस्यूत रहने के कारण उसका अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि द्वैतवस्तु सत्–अधिष्ठान के साथ तादात्म्यापन्न होकर ही मिथ्या रूप से सिद्ध होती है, शुक्ति रौप्यादि के सदृश अध्यस्त वस्तु का अधिष्ठान के साथ तादात्म्य प्राप्त होकर नहीं। इसलिये आत्मा अभाव का प्रतियोगी नहीं है, देह, इन्द्रिय प्रभृति ही अभाव के प्रतियोगी हैं। अतएव देह, इन्द्रिय प्रभृति आत्मा नहीं हैं। किन्तु स्वप्रकाश बोधस्वरूप आत्मा अद्वैत होने पर भी देह, इन्द्रियादि अनादि अनिर्वचनीय अविद्या द्वारा कल्पित हैं, इसलिये वे अनिर्वचनीय हैं–यही वेदान्त सिद्धान्त का रहस्य है। इस पर यदि कहा जाय कि सिद्धान्तमत में आत्मा

बोधस्वरूप स्वीकृत होने पर सुषुप्ति काल में किसी प्रकार का बोध न रहने से, क्योंकि 'मैं गाढ़ निद्रा में था, कुछ भी नहीं जान सका' ऐसा स्मरण सुषुप्ति से उत्थित व्यक्ति को होता है, आत्मा की अव्यभिचारिता अर्थात् अविनाशिता कैसे सिद्ध हुई ? इस आशङ्का का उत्तर यह है कि आत्मा सुषुप्ति का साक्षी अर्थात् द्रष्टा होने के कारण सुषुप्ति काल में उसका अभाव नहीं होता। इसे न मानने पर 'मैं मोहग्रस्त था' ऐसा परामर्श अर्थात् स्मरण सुषुप्ति से उत्थित व्यक्ति को नहीं हो सकता। प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति तथा प्रमेय का व्यभिचार अर्थात् विनाश होने पर भी प्रमातृ प्रभृति के भावाभाव के साक्षिस्वरूप आत्मा का तीनों काल में विनाश नहीं है। यदि कोई कहे कि प्रमा के आश्रय को प्रमाता कहते हैं, वह प्रमाता ही कर्त्ता एवं भोक्ता है और प्रदीप के समान अपना तथा अन्य सम्पूर्ण वस्तुओं का प्रकाशक है, अतएव प्रमाता (ज्ञाता) को घटादि के समान साक्षी की अपेक्षा नहीं रहती। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रमाता स्वयं विकारी होने से अपने विकार का साक्षी नहीं हो सकता। दृश्य वस्तु का द्रष्टृत्व सङ्गत नहीं होता। प्रमाता भी परिणामी होने के कारण दृश्य है, सुतरां एकमात्र कूटस्थ ही सबका साक्षी रह जाता है। इस पर भी यदि कहा जाय कि एक, कूटस्थ, धर्मरहित साक्षी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रकाशमान आत्मा के प्रकाश से सब प्रकाश पाते हैं, उसके ही प्रकाश के द्वारा सब प्रकाशित होते हैं—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" दृष्टि अर्थात् ज्ञान के द्रष्टा को न देखे—"न दृष्टेः द्रष्टारं पश्येः।" आत्मा सबसे अदृष्ट रहकर सबका द्रष्टा है—"अदृष्टो द्रष्टा।" आत्मातिरिक्त अन्य द्रष्टा नहीं है—"न अन्यः अतः अस्ति द्रष्टा।" इत्यादि वचनों से प्रमाणश्रेष्ठ वेदान्त उस आत्मा को ही सबका साक्षिस्वरूप बतला रहा है। इस पर भी यदि कोई शङ्का करे कि दृश्य जो साक्षिभास्य मन है, वह घटादि के समान जड़ होने से प्रमा का

आश्रय कैसे होगा ? तो ऐसी शंका भी सङ्गत नहीं, क्योंकि मन दर्पणादि के सदृश स्वच्छ होने से चैतन्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकता है अथवा चैतन्य के साथ तादात्म्याध्यास होने के कारण मन प्रमाता का आश्रय बन सकता है।

यहाँ पर यह शङ्का की जा सकती है कि रूपविहीन, निरवयव वस्तु का प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि भ्रान्ति का हेतु नानारूप होने के कारण, नीरूप, निरवयव वस्तु का प्रतिबिम्ब होने में असङ्गति क्यों होगी ? जपापुष्प का जो लालरूप है उसका तो फिर रूप नहीं हैं, क्योंकि रूप में कदापि रूप नहीं रहता, गुण में गुण स्वीकार्य नहीं। परन्तु उसी लोहित रूप का प्रतिबिम्ब स्फटिकादि में दृष्ट होता है और निरवयव शब्द का भी प्रतिशब्दरूप अर्थात् प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है। सुतरां नीरूप तथा निरवयव शब्द के प्रतिबिम्ब के साथ सर्ववादिसम्मत दर्पणादि में मुखादि के प्रतिबिम्ब का वैलक्षण्य निरूपण नहीं किया जा सकता। इस पर शङ्का होती है कि नीरूप तथा निरवयव वस्तु का प्रतिबिम्ब स्वीकार करने पर भी इन्द्रियग्राह्य वस्तु का ही प्रतिबिम्ब स्वीकार करना पड़ेगा। इसका समाधान यह है कि उस नियम का भी व्यभिचार देखा जाता है। आकाश किसी इन्द्रिय का ग्राह्य नहीं है, केवल साक्षी का ही प्रत्यक्ष होता है, उसी आकाश का प्रतिबिम्ब जलादि में देखा जाता है। आकाश का इन्द्रियग्राह्यत्व स्वीकार न करने से जानुपरिमित जल में जलापेक्षा अधिक परिमाणविशिष्ट आकाश की प्रतीति न हो सकती। आकाश का प्रतिबिम्ब साक्षिभास्य होने पर भी अधिष्ठान सामान्यांश रूप जल के ही चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा रहती है, अतएव आकाश की इन्द्रियग्राह्यत्व शङ्का नहीं हो सकती। इसके द्वारा यह भी प्रमाणित हुआ कि 'नीलं नभः' इत्यादि भ्रमस्थलों में चक्षु का अन्वय या व्यतिरेक रहता है, अर्थात् उन्मीलित चक्षु पुरुष को 'नीलंनभः' ऐसा प्रत्यक्ष होता है, निमीलित चक्षु को नहीं—सुतरां आकाश इन्द्रिय-

ग्राह्य होता है यह शङ्का भी निरस्त हुई, क्योंकि 'नीलंनभः' इत्यादि भ्रम में आलोकविशिष्ट आकाश ही अधिष्ठान है, शुद्ध आकाश नहीं, सुतरां इन्द्रियग्राह्य वस्तु का ही प्रतिबिम्ब होता है—यह नियम असङ्गत है और यह भी जानना चाहिये कि चक्षुरिन्द्रियग्राह्यद्रव्य के प्रतिबिम्ब-स्थल में रूप की अपेक्षा रहती है, अन्यन्त्र नहीं।

प्रश्न—अच्छा, ऐसा होने पर भी आत्मा का प्रतिबिम्ब होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—आत्मा मन द्वारा प्रतिबिम्बरूप हुआ था—"रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव।" 'मैं' ऐसे व्यवहार के निमित्त आत्मा का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया जाता है—"तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।" माया आभास अर्थात् स्वगत प्रतिबिम्ब के द्वारा जीव तथा ईश्वर का सृजन करती है—"मायाभासेन जीवेशौ करोति।" सूर्य अथवा चन्द्र एक होने पर भी जैसे जलरूप उपाधि के कारण भिन्न प्रतीत होते हैं, वैसे ही आत्मा एक होने पर भी उपाधि में प्रतिबिम्बित होकर बहुरूपों से दृष्ट होता है—"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेद रूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥" "एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्॥" इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचन आत्मा के प्रतिबिम्ब विषय में प्रमाण हैं। और भी, आत्मा शरीर में नखाग्रपर्यन्त प्रविष्ट है—"स एष इह प्रविष्टः।" आत्मा इस सीमा अर्थात् मस्तक का बिदारण करके मनोवृत्ति द्वारा प्राप्त हुआ था—"स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत।" ब्रह्म जगत् की रचना करके उसके भीतर अनुप्रविष्ट हुआ—"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यादि प्रवेशबोधक श्रुति द्वारा भी आत्मा का प्रतिबिम्ब सिद्ध होता है। फिर इस जीव को जलप्रतिबिम्बित सूर्य के समान परमात्मा का आभास जानना चाहिये—"आभास एव च" (२।३।५०), क्योंकि यह आत्मा चैतन्यस्वरूप, निर्विशेष है, अतएव इसकी उपाधिनिमित्त अपारमार्थिक

अवस्था स्वीकार कर जलप्रतिबिम्बित सूर्य के समान-ऐसा दृष्टान्त दिया गया है--"अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्" इत्यादि ब्रह्मसूत्र भी आत्मा के प्रतिबिम्ब पक्ष म प्रमाण हैं।

प्रश्न—आकाशादि का जो प्रतिबिम्ब होता है, वह तो अचेतन का प्रतिबिम्ब होता है, तब क्या आत्मा भी अचेतन है ?

समाधान—आत्मा का अचेतनभिन्नत्व श्रुतिसिद्ध और अनुभव सिद्ध है, अतएव यह सिद्ध हुआ कि अन्तःकरण ही प्रतिबिम्ब रूप अध्यास को द्वार करके प्रमाता बन बैठता है। जीव की चित्-स्व-रूपता में किसी का भी विवाद नहीं है। मैं मनुष्य, कर्त्ता, भोक्ता हूं इत्यादि प्रतीति सर्वजन प्रसिद्ध है और यह प्रतीति स्मृतिरूप भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षरूप से प्रतीयमान होती है। यह प्रतीति अज्ञान पूर्वक भी नहीं होती, फिर यह यथार्थ ज्ञान (प्रमा) भी नहीं है, क्योंकि श्रुति तथा युक्तियों से बाधित होती है। जो यह विज्ञानमय आत्मा प्राणाभिमानी हृदय के भीतर प्रकाशस्वरूप पुरुष है—"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।" यह आत्मा ही ब्रह्म है—"अयम् आत्मा ब्रह्म।" ब्रह्म सत्य, ज्ञान, तथा अनन्तस्वरूप है—"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म।" ब्रह्म बिज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है—"विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म।" आत्मा सब की आन्तर वस्तु है—"य आत्मा सर्वान्तरः।" जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु को अतिक्रम कर जाता है—"योऽशनाया पिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युम् अत्येति।।" आत्मा पापरहित है—"य आत्मा अपहतपाप्मा।" आत्मा संसार में जो कुछ देखता है, उससे संसक्त नहीं होता—"स यत् तत्र किञ्चित् पश्यति अन्नवागतः तेन भवति।" आत्मा असङ्ग है—"असङ्गो ह्ययं पूरुषः।" इत्यादि श्रुतिवाक्य आत्मा का अकर्त्तृत्व, अभोक्तृत्व तथा परमानन्द ब्रह्मस्वरूपत्व प्रदर्शन कर रहे हैं। इस में युक्तियां भी हैं, जैसे—परिच्छिन्न होने के कारण विकारी वस्तु अनात्मा है, अपने आपका ज्ञान मानने से कर्मकर्तृ विरोध होता है, दृश्य तथा द्रष्टा का सम्बन्ध नहीं हो सकता, भेद अथवा अभेद में धर्मधर्मिभाव नहीं हो सकता,

घटज्ञान, पटज्ञान इत्यादि स्थलों नें उपाधिरूप घट, पट प्रभृति के भेदवश ज्ञान का भेद होता है, स्वभावतः एकमात्र 'ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान' इस रीति से एकत्व अवगत होता है, ज्ञान की उत्पत्ति तथा विनाश की प्रतीति भी अवश्यकल्पनीय विषयसम्बन्ध विषयता के द्वारा उत्पन्न होती है, उपाधि के परामर्श अर्थात् उल्लेख के विना स्वभावतः ही एक घट से दूसरे घट की भेद-प्रतीति होती है, सुतरां घट का भी एकत्व होना चाहिये—ऐसे प्रतिबन्दी का ज्ञान भी सम्भव नहीं होता और आकाश, काल तथा दिक् की भी नानात्वापत्ति होती है, कर्तृत्व-प्रभृति की सत्यता स्वीकार कर लेने से मोक्ष नहीं हो सकता तथा आत्मा के स्वप्रकाशरूपत्व का अस्वीकार करने पर जगत् का अन्धत्वस्वरूप कहना होता है, अतएव आत्मा धर्मरहित नित्यस्वप्रकाश तथा आनन्दस्वरूप ही है। अतएव, परिशेषप्रयुक्त अध्यास को भ्रान्तिरूप कहना पड़ेगा और उसके एक योग्य कारण की भी कल्पना करनी होगी। कल्पना करने पर, वह कल्पना अद्वितीय आत्मा में अध्यस्तरूप से धर्मिग्राहक प्रमाण के द्वारा ही सिद्ध होगी। इसलिये उसे 'मैं नहीं जानता हूँ' ऐसा साक्षिप्रत्यक्षसिद्ध अनिर्वाच्य अज्ञान ही मानना पड़ेगा।

जैसे नयन सन्निहित अङ्गुलि सूर्यमण्डल को ढँक देती है, वैसे ही आवरण तथा विक्षेपशक्ति से युक्त अविद्या दृश्य, जड़ तथा विनाशी होने से परिच्छिन्न होने परभी अनिर्वचनीय होने से विचारसहन में अक्षम होकर भी सर्वव्यापक चित्स्वरूप आत्मा को ढँक लेती है। यदि कहा जाय कि अङ्गुलि तो चक्षु की ही आवरक होती है, सूर्य की नहीं, तो यह भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में तो अङ्गुलि की भी प्रतीति न होनी चाहिये, अधिकन्तु अधिष्ठान को आवरण किये बिना विक्षेप का भी उपपादन नहीं किया जा सकता। अतएव वह अविद्या पूर्व पूर्व संस्कार रूप जीवकर्म द्वारा प्रेरित होकर निखिल जगदाकार में परिणत होती है और स्वगत चिदाभास के द्वारा चैतन्य के साथ तादात्म्य को प्राप्त होती है। इस रीति से उसके सब कार्य भी आभास के द्वारा चैतन्य

में अनुस्यूत होते हैं और इसी से चैतन्य दीप के सदृश स्वसम्बद्ध सब वस्तुओं का प्रकाशक होता है। इसलिये जगत् का उपादानीभूत चैतन्य अर्थात् ईश्वर चैतन्यप्रमाण की अपेक्षा न रखकर ही सर्वदा समस्त वस्तुओं का प्रकाशक होता है। अतएव ईश्वर में प्रमाण-प्रमेय प्रभृति की व्यवस्था का प्रयोजन नहीं रहता, किन्तु जीव में उसका प्रयोजन रहता है, क्योंकि जीव बुद्धि द्वारा अवच्छिन्न रहने के कारण परिच्छिन्न है।

यह अज्ञान ज्ञान का अभाव रूप नहीं है, क्योंकि ज्ञान नित्य होने के कारण उसका अभाव होना असम्भव है—"आत्मानमहं न जानामि" इत्यादि रूप ज्ञानस्थल में, धर्मी तथा प्रतियोगी, उसका विषय और उसका अभाव होने से आघातदोष होता है। अथवा यह अज्ञान भ्रमज्ञान, अथवा संशय, अथवा उस संशय का संस्काराधाररूप भी नहीं है, क्योंकि यह प्रत्यक्षरूप है। अतीत तथा भविष्यत् के भ्रम, संशयराशि और उनके संस्कारसमूह का प्रत्यय न होने के कारण उनका ज्ञान नहीं हो सकता है। अधिक क्या, वह अज्ञान आवरणस्वरूप तथा भ्रम का उपादानकारण है, किन्तु आत्मा निर्विकार होने से वैसा नहीं हो सकता, और अन्तःकरण प्रभृति अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण, एवं "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्"—अर्थात् देव सृष्ट्यादि क्रियायुक्त ब्रह्म की "आत्मशक्ति माया स्वीय सत्त्वादि" गुण के द्वारा घटित—इत्यादि गुणवत्त्वश्रुति रहने के कारण अज्ञानको भ्रम, संशय और तत्संस्कार-परम्परा भी नहीं कहा जा सकता और "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" माया को प्रकृति और मायावी को महेश्वर जाने, "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" परमेश्वर माया द्वारा (अपनी अनन्त सामर्थ्य से) अनेक रूप होकर ज्ञात होता है, "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" जीव समूह मिथ्याभूत माया से ढँके हुये हैं, "भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः" फिर तत्त्वज्ञान उदय होने पर विश्वमाया की निवृत्ति होती है— इत्यादि श्रुतिप्रमाणों से अनिर्वाच्य, मिथ्या, तत्त्वज्ञान के द्वारा विनाश्य माया तथा अविद्यारूप अज्ञान ही अपना और पराया अध्यास का कारण

है। और आत्माश्रय दोष का प्रसङ्ग भी नहीं होता है। आवरण और विक्षेपरूप कार्य प्रवाहरूप से अनादि होने के कारण उनके कारण को भी अनादि स्वीकार करना पड़ेगा। जैसे उत्पत्ति में अनादित्व हेतु आत्माश्रयादि दोष नहीं होता है, वैसे ही ज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान में भी दोष नहीं होता, क्योंकि स्वप्रकाश आत्मा ही ज्ञानरूप है।

अतएव अज्ञान के साथ अध्यासविशिष्ट चैतन्य में अहङ्कार का अध्यास होता है, अहङ्काराध्यास अर्थात् मनोविशिष्ट चैतन्य में अहङ्कार धर्म अर्थात् मनोधर्म काम, सङ्कल्पादि और इन्द्रियधर्म काणत्व–बधिरत्व-क्लीबत्व प्रभृति का अध्यास होजाता है। इन्द्रियसमूह परोक्ष होने के कारण अपरोक्षधर्मी में अर्थात् प्रत्यक्षविषयीभूत मनोविशिष्ट-चैतन्य में इन्द्रियसमूह का तादात्म्याध्यास नहीं होता। उस मनोविशिष्टचैतन्य में स्थूलदेह का अध्यास होता है और उसे देहादिविशिष्ट चैतन्य में स्थूलत्व प्रभृति का एवं स्थूलत्वादि–विशिष्ट चैतन्य में बाह्य पुत्र—कलत्र प्रभृति का साकल्य—वैकल्यादि धर्म का अध्यास होता है। इस रीति से चैतन्य का भी अहङ्कार से आरम्भ करके देहपर्यन्त विषयों में संसर्गवशतः अध्यास हो जाता है। अतएव परस्पर अध्यास के कारण चिद् और अचिद्-ग्रन्थिरूप अध्यास होता है। दोनों में से एक का अध्यास स्वीकार करने से अपर की अप्रतीति होनी चाहिये अर्थात् अपर को भ्रम का विषय नहीं होना चाहिये। भ्रम में अध्यस्त वस्तु की ही प्रतीति होती है, यही नियम रहा है और निखिल बाधाओं की अवधिरूप चैतन्य को अवशेष रखकर परस्पर का अध्यास होने के कारण कभी शून्यवाद की आशङ्का भी नही रह सकती है। क्योंकि जहां अध्यास होता है, वहां सत्य तथा मिथ्या का अवभास होता है। अतएव पूर्व पूर्व अध्यास, पर पर अहङ्कारादि अध्यास का कारण है। यह अध्यास बीजाङ्कुरन्यायवत् अनादि है, किन्तु एकमात्र अविद्याध्यास ही यथार्थ अनादि है।

शङ्का—"स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः" स्मृति—सदृश अपर अधिकरण में पूर्वदृष्ट वस्तु के अवभास को अध्यास कहते

हैं—इस अध्यास लक्षण म भगवान् भाष्यकार श्रीशङ्कर ने अध्यास को स्मृति-रूपत्वहेतु संस्कारजन्य कहा है। अतएव, अध्यास को अनादि मानने से, अनादिवस्तु का जन्यत्व स्वीकार करने के कारण भगवान् भाष्यकार के वचनों के साथ विरोध हो रहा है।

समाधान—नहीं, किसी प्रकार विरोध का अभाव है, क्योंकि आचार्यपाद ने कार्याध्यास को लक्ष्य करके ऐसा कहा है। "परत्र परावभासः" अर्थात् एक अधिकरण में अपर का अवभास ही अध्यास है—इतना कहने पर ही अविद्याध्यास तथा कार्याध्यास—इन दोनों अध्यास का लक्षण उक्त हो जाता है। अथवा "सत्यानृते मिथुनीकृत्य"—सत्य और मिथ्या को एकीभूत करके—इस भाष्यवचन के कारण सत्य तथा मिथ्या वस्तु का अवभास ही अध्यास है। अतएव कारणाध्यास में भी लक्षण का अव्याप्ति दोष नहीं हुआ और कार्याध्यास का भी प्रवाहरूप से बीजाङ्कुरन्यायवत् अनादित्व कहने से किसी प्रकार का दोष नहीं हुआ है।

इस भाव से अध्यास सिद्ध होने पर एक आत्मा की ही जीव और ईश्वर प्रभृति अवस्था एवं प्रमाण-प्रमेय प्रभृति प्रतिकर्मव्यवस्था भी सङ्गत होती है। अज्ञानरूप उपाधिविशिष्ट आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्यापन्न होकर अपने चिदाभास के साथ अविवेकवशतः अन्तर्यामी, साक्षी तथा जगत्कारण रूपों से कथित होता है और बुद्धिरूप उपाधिविशिष्ट आत्मा बुद्धि के साथ तादात्म्य प्राप्त होकर अपने चिदाभास के साथ अविवेक के कारण जीव, कर्त्ता, भोक्ता तथा प्रमाता प्रभृति रूपों से कथित होता है। जीव उपाधि के द्वारा अभिभूत होने के कारण उससे ही संसार की उपलब्धि होती है, किन्तु मायारूप उपाधि परमेश्वर के वशीभूत होने से परमेश्वर में सर्वज्ञत्व प्रभृति व्यवस्था सम्यग्रूप से सङ्गत होती है।

अतएव चैतन्य की अभिव्यक्ति के योग्य अन्तःकरण के साथ जब जिसका सम्बन्ध होता है, तव उस विषय का ही उसी अन्तःकरणावच्छिन्न का जीव अनुभव करता है, इसी रीति से ज्ञानादि का साङ्कर्य नहीं हो सकता। अर्थात् एक विषयक ज्ञान-काल में अन्यविषयक ज्ञान

नहीं होता । शरीर के भीतर स्थित सर्वशरीरव्यापी सत्त्वगुण के प्राधान्यसह सूक्ष्म पञ्चभूतों के द्वारा आरब्ध अविद्या का विवर्त्त, अर्थात् अविद्या का परिणाम दर्पणादि के सदृश अत्यन्त निर्मल स्वच्छ अन्तः-करण, चक्षु प्रभृति को द्वार करके बाहर जाकर योग्य घटादि विषय-समूह को व्यापन करके अग्नि योग से गलित मुषापात्र में क्षिप्त ताम्र के समान उसी उसी वस्तु का आकार धारण कर लेता है। अन्तःकरण का संकोच और विकाश सूर्यालोक के समान अतिशीघ्र होता है। और वह अन्तःकरण सावयव होने से उसी उसी वस्तु के आकार में परिणत होकर देह के भीतर और देहादि में सम्यक् व्याप्त होकर देह और घट के बीच भी चक्षु के न्याय अविच्छिन्न भाव से रहता है। उनमें से जो अन्तःकरणभाग देह के भीतर रहता है, उसका नाम 'अहङ्कार' है, उसे 'कर्ता' कहा जाता है। देह और विषय के मध्यवर्ती दण्डायमान अन्तः करणभाग को वृत्ति ज्ञानरूप क्रिया कहते हैं। और अन्तःकरण का जो अंश विषय का व्यापक हैं, उसे विषय का आवरण निवृत्यादिरूप ज्ञानक्रियाजन्य फल का सम्पादक कहा जाता है, क्योंकि विषय संस्पृष्ट स्वभागावच्छिन्न क्रिया विषयनिष्ठा की अभिव्यक्ति की जननयोग्या होती है। भागभत्रयविशिष्ट वह अन्तःकरण अतिस्वच्छ होने से उसी में चैतन्य अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्त हुआ वह चैतन्य एक होने पर भी अभिव्यञ्जक अन्तःकरणांश के भेद के कारण उसके तीन प्रकार 'भेद-व्यवहार' होते हैं। उनमें से कर्तृभाग द्वारा अविच्छिन्न चिदंश को प्रमाता, क्रियाभाग द्वारा अविच्छिन्न चिदंश को प्रमाण एवं अभिव्यक्ति के योग्यत्वांश द्वारा अविच्छिन्न विषयगत चिदंश को प्रमिति कहते हैं। विषयगत अज्ञात ब्रह्मचैतन्य ही प्रमेय है। वह अज्ञात ब्रह्मचैतन्य ज्ञात होने पर फलरूप से व्यवहृत होता है।

शंका—ब्रह्म का आवरण कैसे सम्भव होगा? क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और प्रकाशस्वरूप होने से सर्वज्ञ है।

समाधान—यह बात सत्य है परन्तु ब्रह्म स्वसम्बद्ध निखिल वस्तु का

प्रकाशक होने के कारण सर्वज्ञ होने पर भी अन्तःकरणावच्छिन्न जीव के अज्ञान का विषय होने से आवृत है, ऐसा व्यवहार होता है। इसलिय जिस पक्ष में ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण माना जाता है, उसी पक्ष में चैतन्य के साथ सम्बन्ध के निमित्त अथवा आवरण भंग के निमित्त वृत्ति स्वीकार करनी होगी। किन्तु जिस पक्ष में जीव को जगत् का उपादान-कारण स्वीकार किया जाता है, उस पक्ष में अन्तःकरण वृत्ति को आवरण भंग का निमित्त मानना ही पड़ेगा।

शंका—अज्ञान एक होने के कारण एक मात्र घटाकार ज्ञान द्वारा आवरण भंग होने पर उस क्षण में ही मुक्ति होनी चाहिये। और जो लोग नाना अज्ञान मानते हैं, उनके मत में भी जीव की अज्ञानरूप उपाधि एक ही है, सुतरां उनके पक्ष में भी क्या सद्योमोक्ष का प्रसङ्ग होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि जैसे उत्तेजक सूर्यकान्तमणि द्वारा चन्द्रकान्तमणि का अभिभव होता है, वैसे ही वृत्ति द्वारा आवरण का अभिभव स्वीकार किया जाता है। प्रमाणजन्य अन्तःकरणवृत्ति का अभाव-विशिष्टअज्ञान, जो विद्यमान और प्रकाशमान वस्तु में नहीं रहता, वह प्रकाश नहीं पा रहा है—ऐसे प्रतीति जनन में समर्थ अज्ञान को 'आवरण' कहा जाता है। किन्तु वृत्ति उत्पन्न होने पर अज्ञान का किसी प्रकार अवच्छेदक अर्थात् भेदक धर्म न रहने के कारण अज्ञान विद्यमान रहने पर भी अविद्यमान के समान होता है, इस कारण अज्ञान अपने आवरण रूप कार्य करने में समर्थ नहीं होता। और इस हेतु वृत्ति द्वारा अज्ञान का अभिभव माना जाता है।

शंका—वृत्ति द्वारा अज्ञान का अभिभव मात्र मानने से, ब्रह्मज्ञानद्वारा भी अविद्या की निवृत्ति न होने के कारण मोक्षाभाव का ही प्रसङ्ग हुआ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तत्त्वमस्यादि - महावाक्यार्थ ज्ञान से अविद्या का केवलमात्र अभिभव न होकर अविद्या की निवृत्ति ही होती है, अतः अविद्या का विषय जो चैतन्य, तद्विषयक जो प्रमा, तादृश प्रमात्वरूप से ही महावाक्यार्थज्ञान अविद्या का निवर्त्तक होता है, ऐसा

स्वीकार किया गया है। और महावाक्यार्थज्ञान का ही अबाधित विषयत्व प्रयुक्त प्रमात्व होता है। किन्तु घटादि प्रत्यक्षादि ज्ञान का बाधित विषयत्वप्रयुक्त भ्रमत्व होने पर भी व्यवहार सामर्थ्य के कारण उसमें प्रामाण्याभिमान मात्र होता है उसका प्रमात्व नहीं होता। ऐसे ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, अभिभव मात्र होता है।

शंका--तब तो जिस अज्ञान विषयक प्रमाज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है, वह प्रमाज्ञान केवल महावाक्यार्थ ज्ञान होगा, अन्य किसी प्रकार का ज्ञान प्रमाज्ञान नहीं हो सकता, सुतरां प्रमाज्ञान द्वारा अज्ञान निवृत्ति का तो और कोई निदर्शन नहीं रह जाता है, क्योंकि घटादि ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, केवल अज्ञान का अभिभवमात्र होता है। सुतरां ब्रह्मज्ञान द्वारा अज्ञाननिवृत्ति का भी कोई निदर्शन नहीं रह गया है।

समाधान---ऐसी आपत्ति वास्तविक पक्ष में अकिंचित्कर है। ब्रह्मज्ञान की अज्ञान निवर्त्तकता अनुभवसिद्ध है, एवम् 'विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः' विद्वान् आत्मज्ञव्यक्ति नाम और रूप से 'नाम रूपात्मक संसार से' मुक्त हो जाता है--इस श्रुति का अर्थ और अन्य किसी प्रकार से उपपन्न नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है--इसी पक्ष को ही बलवान् स्वीकार करना पड़ेगा। इस विषय में वेदान्तविद् लोग कहते हैं--"अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाविका। पिनाष्ट्यदृष्टि वैमत्यं सैव सर्वबलाधिका॥" अर्थात् वस्तु का साधक अन्यथानुपपत्ति रहने पर, अन्यत्र दृष्ट न होने के कारण जो विवाद होता है, उसे वह नाश कर देती है, अन्यथानुपपत्ति सर्वापेक्षा बलवती होती है। अथवा मूलाज्ञान के ही जो अवस्थाविशेष अज्ञान समूह रहते है, वे घटादि विषयों के आवरक होते हैं। अज्ञान ज्ञानप्रागभावस्थानीय होने से जितने ज्ञान हैं, उतने अज्ञान स्वीकार किये जाते हैं, इस कारण एक ज्ञान के द्वारा एक अज्ञान का ही नाश माना जाता है और इसीलिए घटादि ज्ञान द्वारा घटावच्छिन्नचैतन्य के आवारणनाश में और किसी प्रकार की असंगति नहीं रह जाती।

शंका—अनुमानादि द्वारा आवरणनिवृत्ति होती है या नहीं ? प्रथम पक्ष में अर्थात् आवरणनिवृत्ति मानने से प्रत्यक्षभ्रम शंखपीतत्व तथा दिङ्मोहादि के श्वेतत्व प्रभृति की निवृत्ति अनुमान द्वारा स्वीकार करनी पड़ेगी, क्योंकि अधिष्ठान का अज्ञान भ्रम का उपादान होता है। अधिष्ठानाज्ञान की निवृत्ति होने पर भ्रम की भी निवृत्ति होती है। यौक्तिक ज्ञान द्वारा अर्थात् अनुमानादि प्रमाणजन्यज्ञान द्वारा ब्रह्म-विषयक अज्ञान की निवृत्ति होने पर ब्रह्मसाक्षात्कार के निमित्त श्रवण, मननादि की अपेक्षा भी नहीं रह जाती। किन्तु यह अभीष्ट नहीं है। द्वितीय पक्ष में अर्थात् अनुमान द्वारा आवरणनिवृत्ति के अस्वीकार पक्ष में आवरण की निवृत्ति न होने पर 'अग्नि है'—ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिबन्धक रहा है। अतएव दोनों पक्ष में ही दोष हो रहा है।

समाधान—दोष नहीं होता है, क्योंकि आवरण द्विविध है, प्रथम आवरण वस्तु की असत्ता का सम्पादक है जो अन्तः-करणावच्छिन्न साक्षी में विद्यमान रहता है और द्वितीय आवरण अभानापादक है अर्थात् वस्तु की अप्रतीति का प्रयोजक है। वह विष-यावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यमें विद्यमान रहता है, क्योंकि 'मैं घट को नहीं जानता हूं'—इस स्थल में मैं और घटरूप दोनों से अवच्छेद का अनुभव होता है। असत्तापादक आवरण परोक्ष तथा प्रत्यक्ष एतदुभयसाधारण—प्रमाणजन्यज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाता है, क्योंकि अग्नि प्रभृति अनुमित होने पर भी उनके अभाव की प्रतीति का उदय नहीं होता है। अभानापादक आवरण केवल ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा ही निवृत्त होता है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिसे आश्रय करके यदाकार ज्ञान होता है, उसे आश्रय करके तदाकार अज्ञान को वह ज्ञान विनाश कर डालता है।

परोक्ष ज्ञान के स्थल में इन्द्रिय तथा विषय का सम्बन्ध नहीं रहता, इस कारण परोक्षज्ञान का आश्रय एक मात्र अन्तःकरण होता है और प्रत्यक्षज्ञान विषयव्यापारजन्य होने के कारण विषय तथा अन्तःकरण इन

दोनों से उत्पन्न होता है। सुतरां प्रत्यक्ष ज्ञान और विषय अन्तःकरणनिष्ठ होता है। कहा भी गया है—"परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्वावृत्तिहेतुता। अपरोक्षधिया नश्येदभानावृत्तिहेतुता॥" अर्थात परोक्षज्ञान द्वारा 'नास्ति' ऐसे असत्त्व का आपादक आवरण नष्ट होता है और प्रत्यक्ष ज्ञानद्वारा 'प्रकाश नहीं पा रहा है' ऐसे अभान का आवरण नष्ट हो जाता है। इसलिये अनुमानादिस्थलों में 'यह वस्तु नहीं है'—ऐसे असत्त्वापादक आवरण के नाश का हेतु 'है'——ऐसा व्यवहार किया जाता है। अभान के आवरण की निवृत्ति होने पर सोपाधिक प्रत्यक्षभ्रम की निवृत्ति हो जाती है। अतएव अध्यास में किसी प्रकार भी दोष की सम्भावना नहीं रह जाती। अतः धर्मरहित आत्मा का भी अविद्या द्वारा अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास होने से अन्तःकरण के धर्म कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रभृति का अध्यास उत्पन्न होता है। यह अध्यास मिथ्याप्रत्ययरूप है।

अध्यास का नाम ही अविद्या या अज्ञान है। विद्या अर्थात् ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने पर अविद्या दूरीभूत हो जाती है। उसी स्थिति में अविद्या-जात संसार भी विलय को प्राप्त हो जाता है। यह अविद्या द्विविध है—मूलाविद्या और तूलाविद्या। ब्रह्माश्रित अविद्या का नाम मूलाविद्या और जीवाश्रित अविद्या का नाम तूलाविद्या है। तूलाविद्या प्रत्येक जीव में पृथक् पृथक् भाव से रहने के कारण असंख्य है। अतएव जिसको तत्त्व-ज्ञान की प्राति होगी, उसका ही अज्ञान दूरीभूत होगा एवं वही मक्ति-लाभ करेगा। शुक्ति में रजत का अध्यास होता है, किन्तु रजत का गुण शुक्ति में नहीं जाता, यदि जाता, तो जैसे रजत से अलङ्कारादि तैयार होते ह, वैसे शुक्ति से भी होते। रज्जु में सर्प का अध्यास होता है परन्तु सर्प का विषादि दोष रज्जु में प्रकाश नहीं पाता। उसी प्रकार आत्मा और अनात्मा का अध्यास हो जाता है, किन्तु अनात्मा के दोष स्थूलत्व, जड़त्व प्रभृति आत्मा में नहीं जाते, और अनात्मा में भी आत्मा का अध्यास होने पर आत्मा का स्वप्रकाशत्व गुण अनात्मा में इष्ट नहीं होता। कर्तृत्व और भोक्तृत्व अध्यास का कार्य या फल है। अध्यास

अनादि अविद्यास्वरूप होने से उसका कार्य भी अनादि है। तत्त्वज्ञान के बिना उसका नाश न होने के कारण वह अनन्त है। अध्यास से संस्कार और संस्कार से अध्यास—इस प्रकार प्रवाहरूप से अध्यास नैसर्गिक (स्वाभाविक) है।

शङ्का—अनिर्वचनीय-ख्याति स्वीकार करने से जिस कर्त्तृत्वादि, अन्तःकरण धर्म समूह का आत्मा में अध्यास होता है, उस धर्म समूह की उपपत्ति आत्मा में माननी पड़ेगी। तब तो व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेदों से कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व प्रभृति की दो प्रकार की प्रतीति होनी चाहिये।

समाधान—ऐसी दो प्रकार की प्रतीति नहीं होती—तादात्म्याभिमान के कारण, अर्थात् आत्मा और मन के भेद-ज्ञान के अग्रहण से तथा आत्म-धर्म और मनोधर्म के भेद ग्रहण में असमर्थ होने के कारण अथवा सकल धर्मविशिष्ट अन्तःकरण का आत्मा में अध्यास होने से उभय पदार्थ नहीं रह जाते। एक ही आत्मा के उपाधिभेद से प्रमातृ प्रभृति व्यवस्था की उपपत्ति होने के कारण बौद्धमतापत्ति का भी अवकाश न रहा। अतः किसी प्रकार का विरोध भी उपस्थित न हुआ। सुतरां, व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद से कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रभृति की द्विविध प्रतीति नहीं होती। जिस स्थिति में शुक्ति में रजत प्रकाश पाता है और रजतार्थी उसे लेने के लिए दौड़ता है एवम् 'यह रजत है' ऐसा व्यवहार भी करता है, उसी स्थिति में वादी को ही वहाँ पर अनिच्छा रहने पर भी अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी। शुक्ति का ज्ञान न होने तक रजत का अस्तित्व रह जाता है।

अतएव ज्ञानस्वरूप आत्मा का व्यभिचार सुषुप्ति में भी न होने के कारण अर्थात् सुषुप्ति में भी आत्मा नियतभाव से विद्यमान रहने के कारण तथा देह और इन्द्रियादि का व्यभिचार उपलब्ध होने के कारण अर्थात् सुषुप्ति में इन्द्रियादि न रहने के कारण और उनके दृश्यत्वधर्म प्रकाश रह जाने से उन देहेन्द्रियादि में जो आत्मबुद्धि होती है, वह

'देह ही आत्मा है', 'इन्द्रिय ही आत्मा है' इत्यादि मतवादियों की भ्रान्ति जाननी चाहिये और इस कारण औपनिषद मत ही अर्थात् अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त ही प्रमाणसिद्ध स्थिर हो रहा है। उपनिषद् में आत्मा को 'अकर्ता', 'अभोक्ता', 'अद्वितीय' कहा गया है, वही आत्मा का यथार्थ-स्वरूप है। ऐसा आत्मज्ञान ही तत्त्वज्ञान या यथार्थज्ञान है।

२

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है

सत्-स्वरूपता, चित्-स्वरूपता (ज्ञान-स्वरूपता) और आनन्द स्वरूपता आत्मा का लक्षण है। सर्वदा अपने 'स्वरूप' में ही विद्यमान रहने के कारण भूत-भविष्यत्-वर्तमान्, तीनों काल में वह बाधारहित, एक रस रहता है, इसीलिये वह 'सत्य' कहलाता है। ज्ञानस्वरूप होन के कारण वह शुद्ध चैतन्यलक्षण 'चित् स्वरूप' और अखण्ड सुखरूप होने के कारण 'आनन्द स्वरूप' कहलाता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व निरन्तर अनुगत रहता है, इस लिये यह अविकारी 'नित्य' है।' मैं था'—ऐसा अभिन्न ज्ञान सभी समय में देखने में आता है, 'मैं नहीं था'—ऐसा ज्ञान कभी देखने में नहीं आता, इसी लिये आत्मा नित्य है। श्री गङ्गा जी की तरङ्ग-माला में जैसे जल अनुस्यूत है, जल ही बराबर बहता रहता है, वैसे ही बाल्य, यौवन, प्रौढ़ आदि अवस्थाओं में तथा जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति दशाओं में एवं भली–बुरी बुद्धि की सकल वृत्तियों में भी आत्मा का अस्तित्व निरन्तर पूर्ण रहता है, साक्षी की एक रूपता बराबर बनी रहती है। पदार्थ के भेद से अहङ्कार आदि में भी भेद होता है अर्थात् अहङ्कार आदि अलग अलग होते हैं और प्रतिक्षण उनकी अवस्था बदल जाने के कारण वे विकारी हैं। परन्तु आत्मा निरवयव होने से उसका परिणाम नहीं होता, इसी लिये वह अविकारी नित्य है। 'जो मैं स्वप्न देख रहा था, जो मैं सुख से सोया था, वही मैं अब जागता हूँ'—इस प्रकार निरन्तर भाव से

आत्मा का अस्तित्व अनुभव में आता है, इसलिये आत्मा 'सत्य' है। श्रुति में जो आत्मा की प्राण, मन आदि सोलह कलायें बतलायी गई हैं, वे चिदाभास—प्रतिबिम्बित चैतन्य की हैं। निरवयव होने से आत्मा का कभी लय नहीं होता, इस लिये वह 'नित्य' है।

जैसे घट, पट आदि जड़ वस्तुओं का स्वभाव से अपने आप प्रकाश कभी भी नहीं होता, सूर्य आदि की किरणों के बिना कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही आत्मा के बिना बुद्धि आदि का भी स्वभावतः प्रकाश नहीं होता जैस सूर्य प्रकाशस्वरूप है, वैसे ही वेद के द्वारा आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप माना गया है। जैसे सूर्य अपने प्रकाशन में अथवा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने में किसी दूसरे प्रकाश की जरा सी भी अपेक्षा नहीं रखता, वैसे चैतन्यस्वरूप परमात्मा भी अपने बोधन में अथवा अहङ्कार आदि के ज्ञापन में किसी की भी अपेक्षा नहीं करता। आत्मा दूसरे किसी प्रकाश की अपेक्षा न करके अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होता है, इस लिये वह 'स्वयंप्रकाश' है। प्रकाशित होते हुये जिसके प्रकाश को लेकर यह सब संसार प्रकाशित होता है, वह आत्मा सभी अवस्थाओं में स्वयं प्रकाश रहता है।

आत्मा सुख रूप होने से 'आनन्दस्वरूप' है और परम प्रेम का आश्रय होने से 'सुखरूप' है। स्त्री-पुत्र आदि सुख के कारण पदार्थों में सब प्राणियों का ससीम प्रेम देखने में आता है, परन्तु कहीं भी किसी समय भी प्राणियों को अपने में ससीम प्रीति देखने में नहीं आती। अपितु अपने में सभी की असीम प्रीति होती है। क्षीण इन्द्रियवाले की या बृद्ध की अथवा जो मृत्यु के मुख में आ पहुँचा है उसको भी जीवित रहने की आशा रहती है, क्योंकि आत्मा सब से अधिक प्रिय है। आत्मा पुत्र से, धन से तथा अन्य सभी पदार्थों से अधिक प्रिय है, इसलिये आत्मा सबसे अधिक आन्तर परमप्रिय पदार्थ है—"वित्तात् प्रियः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम्। इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः॥" प्रिय वस्तु सब अवस्थाओं में ही प्रिय रहती है। विपत्ति हो चाहे सम्पत्ति, उस समय जैसा

आत्मा प्रिय होता है, वैसा प्रिय दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं होता। स्त्री–पुत्र, धन, जन, घर आदि पदार्थ तथा व्यापार, खेती, गोपालन, राजसेवा और चिकित्सा आदि नाना प्रकार की क्रियायें आत्मा के ही लिये हैं, क्या प्रवृत्ति क्या निवृत्ति तथा और जो कुछ जितना भी चेष्टा का विषय है, वह सब आत्मा के लिये ही है, अन्य के लिये नहीं। अज्ञानी पुरुष सुखस्वरूप आत्मा को न जान कर ही बाहरी सुख को पाने के लिये उद्योग करता है, परन्तु कोई भी पण्डित पुरुष सुखस्वरूप आत्मा को जान कर बाहरी सुख के लिये यत्न नहीं करता। अज्ञानी पुरुष स्वभाव से ही स्थूल और सूक्ष्म शरीर को आत्मा मान कर और आत्मा की सुखस्वरूपता को भूल कर दुःख-दायक विषयों से सुख चाहता है। 'आत्मा अन्य पदार्थ है और सुख उससे अन्य पदार्थ'—ऐसा निश्चय करके मूढ़ पुरुष यथार्थ में बाहरी सुख के लिये यत्न करता है। इस संसार में प्रिय पदार्थ का ध्यान करने, उसको देखने और भोगने में सब प्राणियों को जिस आनन्द का अनुभव होता है, वह आनन्द उस पदार्थ का धर्म नहीं है, क्योंकि उसकी व्याप्ति तो मन में ही होती है। वस्तु का धर्म मन में कैसे आ जायगा? अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म का ज्ञान देखने में नहीं आता है, इसलिये आनन्द कभी भी स्त्री-पुत्र आदि पदार्थों का धर्म नहीं है।

आनन्द मन का भी धर्म नहीं है, क्योंकि विषय के न होने पर आनन्द अनुभव में नहीं आता है। यदि कहा जाय कि 'आनन्द विषय का धर्म है और अशुभ प्रारब्ध आदि प्रतिबन्धक के कारण अनुभव में नहीं आता है, तो यह कहना ठीक नहीं है। इसमें अशुभ प्रारब्ध की तो कल्पना ही नहीं हो सकती, क्योंकि प्रिय पदार्थ की प्राप्ति में अशुभ अदृष्ट कैसा? इसलिये आनन्द मन का धर्म भी नहीं है। आत्मा निर्गुण है इस कारण आनन्द भी धर्म नहीं है, किन्तु पुण्य और इष्ट पदार्थ की समीपता के कारण सत्त्वगुण प्रधान इस अन्तःकरण में, निर्मल जल में चन्द्रमा की तरह आत्मा प्रति-बिम्बित होता है। वही प्रतिबिम्ब रूप आनन्द अन्तः-करण में प्रति-बिम्बित होता हुआ पुण्य की अधिकता और न्यूनता के अनुसार भला-

बुरा नाना प्रकार का अनुभूत होता है। श्रुति ने चक्रवर्ती राजा से लेकर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा पर्यन्त के जिस आनन्द का वर्णन किया है, वह एक दिन अवश्य नष्ट हो जाने वाला है। उसमें न्यूनता-अधिकता रहती है। एक मात्र पुण्यरूप उपायवाला जो विषयानन्द है, उसको भोगने के समय भी कुछ दुःख होता है। उस आनन्द का कारण जो कि शुभकर्मों का फल है, नष्ट होते ही जब उस विषय-सुख-भोग का भी अन्त हो जाता है तब बड़ा ही दुःख होता है, क्योंकि विषयों में मिला हुआ सुख, विष मिले भात के समान दुःख दायक होता है। विषयजनित सुख-भोग के समय भी दुःख होने का कारण यह है कि वह भला-बुरा, घटिया-बढ़िया नाना प्रकार का होता है और एक दिन उसके नष्ट हो जाने का भय लगा रहता है। इस लिये विद्वान् पुरुष को विषयसुख की लालसा नहीं करनी चाहिये। जो बिम्बरूप आनन्द है वही सुखरूप आत्मा है। वह शाश्वत, द्वैतशून्य, पूर्ण, नित्य और एक होकर सदा निर्भय रहता है। वह बिम्बरूप आनन्द प्रतिफलित आनन्द के द्वारा ही जाना जाता है, क्योंकि बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता। जाग्रत् काल और स्वप्न काल में अविद्या और उसके कार्य देह तथा इन्द्रियों के विद्यमान रहने से सबसे पहले वर्तमान् आत्मा ज्ञान का विषय नहीं होता। परन्तु सुषुप्ति काल में दुःखमय स्थूल और सूक्ष्म शरीर के अपने कारण में लीन हो जाने पर आनन्दस्वरूप आत्मा प्रकाशित होता है। क्योंकि सुषुप्ति के समय कोई विषय और बुद्धि आदि भी नहीं रहते हैं, केवल आनन्दरूप अद्वितीय आत्मा ही विद्यमान होता है। सुषुप्ति से उठने वाले सब लोग सुखस्वरूप से आत्मा का प्रत्यभिज्ञान करते हैं। केवल दूसरे लोग ही आत्मा की सुखरूपता का अनुभव नहीं करते हैं, किन्तु सोकर उठने पर 'मैं सुखसे सो रहा था' ऐसे अनुभव से आत्मा का सुखरूप होना जानते हैं—"सुप्तोत्थितस्य सौषुप्तमो बोधो भवेत् स्मृतिः।" ब्रह्मा आदि सकल प्राणी अपनी अपनी उपाधि के अनुसार इस आत्मा के ही सुखस्वरूप अंश के आधार पर जीवित रहते हैं। जहां कहीं भी, जिस किसी भी वस्तु के संयोग से सुख होता है, वहां सुख

आत्मा का स्फुरणरूप आनन्द ही है। जैसे नील कमल का खिलना चन्द्रमा के अनुग्रह से ही होता है, वैसे सकल जड़ पदार्थों को सुख का उदय आत्मा के स्फुरण से ही होता है—"ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इतित्रयम्। अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन ।। तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्ययम्। आनन्दौ जनयन्नास्ति ब्रह्मानन्दः स्वयं प्रभः ।।" (पंचदशी ११।८७,८८)

सत्त्व, चित्त्व और आनन्द आत्मा के गुण नहीं हैं, क्योंकि ये तीन आत्मा के गुण (धर्म) हों तो विशेषण हो जाय। विशेषण दूसरे का व्यावर्तक होता है। यदि आत्मा के सिवा अन्य पदार्थ होता तो वे उसका निषेध करते। निर्गुण आत्मा को गुण का सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसलिये सत् चित् और आनन्द आत्मा के गुण भी नहीं हैं। वे आत्मा के स्वरूप हैं अर्थात् आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है—"सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपा त्मकं जकत्: तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्द लक्षणम् ।। सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म ब्रह्वृचः। सनत्कुमार आनन्दमेवमन्यत्र गम्यताम् ।।" (पंचदशी १३।६२,६३)।

३

अध्यास

ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का उदय होने पर अज्ञताजनित निखिल दुःखों का अपने बीज अज्ञान या अविद्या के साथ निःशेष क्षय हो जाता है। अविद्या का निःशेष क्षय ही मोक्ष या विमुक्ति है और यही परमपुरुषार्थ है। इस मोक्ष की स्पृहा या मुमुक्षुत्व और उसके लिये कुछ साधन सम्पद् जिनको नहीं है, वह वेदान्त शास्त्र का अधिकारी नही माना जाता। अध्यास का रहस्य ठीक-ठीक हृदयङ्गम किये बिना वेदान्त प्रतिपाद्य तत्त्व के रस का अनुभव नहीं किया जा सकता। 'अधि' पूर्वक 'अस' धातु से 'अध्यास' शब्द हुआ है। अस् धातु का अर्थ है निक्षेप (आरोप) किसी एक वस्तु पर किसी दूसरी वस्तु का निक्षेप 'अध्यास' कहा जाता है। वेदान्त में 'अध्यास' या आरोप का विशिष्ट अर्थ है—मिथ्या प्रतीति। जैसे शुक्ति में रजत प्रतीति, रज्जु में सर्प-प्रतीति, स्थाणु में मनुष्य-प्रतीति आदि। इन में यथा क्रम शुक्ति में रजत या रजत-धर्म का, रज्जु में सर्प या सर्प-धर्म का, स्थाणु में मनुष्य या मनुष्य-धर्म का आरोप किया जाता है। इन स्थलों में शुक्ति, रज्जु और स्थाणु सत्य हैं और उनमें आरोपित रजत, सर्प तथा मनुष्य मिथ्या हैं। रजत, सर्प और मनुष्य अन्यत्र सत्य होने पर भी आरोप-स्थल में अरोपणीय रूप से मिथ्या है, अतः आरोप या अध्यास सत्य और मिथ्या का एक मिलन है, जो सत्य वस्तु का साक्षात्कार होने पर नहीं रहता, उस समय सत्य वस्तु अपने स्वरूप में दृष्ट होने के कारण मिथ्या का आवरण लुप्त हो जाता है। इसलिये अध्यास को एक प्रकार

का 'अवभास' भी कहा जाता है। 'भास' शब्द का अर्थ है प्रकाश या प्रतीति। अवमान युक्त या अवसन्न अर्थात् अवसाद युक्त भास को अवभास कहते हैं। प्रतीति या प्रकाश का अन्य प्रकार की प्रतीति या प्रकाश द्वारा निराकरण ही उसका अवसाद या अवमान है।

अध्यास या आरोप में जिस वस्तु का आरोप किया जाता है, आरोप काल में वह नहीं रहता—किसी सयय वह इन्द्रियगोचर था, किन्तु आरोप के समय वह केवल संस्कारमात्र में परिणत रहता है। इसलिये अध्यास के साथ स्मृति का किञ्चित् सादृश्य है, क्योंकि दोनों संस्कार से उत्पन्न होते हैं। विना अनुभव के स्मृति नहीं हो सकती, अनुभव विनष्ट होने पर वह संस्कार रूप में रह जाता है। अनुभूत वस्तु संस्कार रूप से रह कर स्मृतिपथ से-स्मृत वस्तु रूप से उदित होती है। स्मृति में स्मर्यमाण वस्तु सन्निहित नहीं रहती, केवल तद्विषयक एक संस्कार मात्र रहता है, वह केवल संस्कार से ही उत्पन्न होती है। अध्यास में भी अध्यस्यमान अर्थात् आरोप्यमाण वस्तु सन्निहित नहीं रहती, केवल उसके पूर्व दर्शन से उत्पन्न संस्कार मात्र रहता है—अध्यासचाकचिक्यादि दोषों के साथ संस्कार से उत्पन्न होता है। असन्निहित विषयता अर्थात् प्रतीयमान वस्तु की अनुपस्थिति ही केवल अध्यास के साथ स्मृति सादृश्य स्थल है, अन्यथा स्मृति और अध्यास दो भिन्न नहीं हैं। किसी के हाथ में 'वेदान्तदर्शन' देखकर अपने खोये हुये 'वेदान्तदर्शन' का स्मरण होने पर उसे अध्यास कहा नहीं जा सकता, क्योंकि यहां पर दूसरे के पास देखे हुये वेदान्तदर्शन में अपने खोये हुये वेदान्तदर्शन की प्रतीति नहीं होती।

जिस प्रकार स्मृति अध्यास नहीं है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी अध्यास नहीं है। मान लीजिये कि बारह वर्ष पूर्व रामचन्द्र नामक किसी व्यक्ति के साथ काशी में मेरा परिचय हुआ था, उसे आज उत्तर काशी की अपनी कुटिया में दर्शनार्थी रूप से देखकर मैंने पहचाना—इस का नाम प्रत्यभिज्ञान है। इस स्थल में रामचन्द्र में ही रामचन्द्र

का ज्ञान हुआ है अर्थात् सत्य अधिष्ठान में सत्य वस्तु की ही प्रतीति हुई है, सुतरां इसे अध्यास नहीं कहा जा सकता । प्रत्यभिज्ञान अध्यास भी नहीं है और स्मृति भी नहीं है। स्मृति में स्मर्यमाण वस्तु सन्निहित नहीं रहती, प्रत्यभिज्ञान में प्रत्यभिज्ञान का विषय सन्निहित रहता है, यही इन में अन्तर है ।

'अध्यास'—शब्दार्थ बोधगम्य कराने के लिये शुक्ति—रजत, रज्जु—सर्प, स्थाणु—मनुष्य प्रभृति दृष्टान्तो का प्रयोग किया गया है—उन्हें दृष्टान्त मात्र ही जानना और मानना चाहिये। शुक्ति में किंवा रज्जु में किस अवस्था में और किस कारण से रजत—भ्रम या सर्प-भ्रम होता है, इस की व्याख्या करना वेदान्त का लक्ष्य नहीं है। वेदान्त प्रतिपाद्य वस्तु हृदयङ्गम कराने के लिए उन दृष्टान्तों की किञ्चित् उपयोगिता रहने के कारण ही उन्हें ग्रहण किया गया है।

अध्यास दो प्रकार का है—धर्मी—अध्यास या तादात्म्याध्यास और धर्म-अध्यास या संसर्गाध्यास। वह धर्माध्यास भी दो प्रकार का है—एक तादात्म्याध्यास मूलक और दूसरा प्रतिबिम्ब-मूलक अर्थात् धर्मिद्वय का जहाँ तादात्म्याध्यास या प्रतिबिम्बाध्यास होता है, वहाँ धर्माध्यास भी होता है। किन्तु जिस वस्तु का रूप है, उस का ही प्रतिबिम्ब होता है, जैसे स्फटिक में जपाकुसुम के लौहित्य धर्म का प्रतिबिम्ब होता है और जिस वस्तु का रूप नहीं है, उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। अध्यास फिर दो प्रकार का है—सोपाधिक और निरुपाधिक। प्रतिबिम्बस्थल में ही सोपाधिक अध्यास होता है, क्योंकि वहाँ पर उपाधि और प्रतिबिम्ब दोनों रहते हैं, दर्पण, जलप्रभृति उपाधिओं में ही प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है। रज्जु, सर्प-प्रभृति स्थलों में निरुपाधिक अध्यास होता है, क्योंकि वहाँ उपाधि का अभाव रहता है। उस अध्यास के और भी दो भेद हैं—अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास। 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि अभिमान का नाम 'अर्थाध्यास' है और इस का व्यवहार अर्थात् उस प्रकार की बुद्धि ही 'ज्ञानाध्यास' है। जिसमें

किसी वस्तु का अध्यास या आरोप होता है, उसका नाम अधिष्ठान है, जैसे शुक्ति में भ्रमवश रजत का आरोप होता है, यहां पर शुक्ति अधिष्ठान है और रजत आरोप्य है। अधिष्ठान में आरोप्य का भ्रम होने के पूर्व अधिष्ठान सामान्यांश और आरोप्य विशेष के परस्पर ऐक्य की प्रमा अर्थात् सत्यज्ञान का होना आवश्यक है और इस सत्यज्ञान के लिये फिर संस्कार का रहना भी प्रयोजन होता है। यह संस्कार ही अध्यास का कारण है।

वेदान्त कहते हैं—इस विश्व ब्रह्माण्ड का सत् अर्थात् सत्य वस्तु एक ही है—वह ब्रह्म या आत्मा है। उससे अतिरिक्त जो कुछ देखा जाता है, वह मिथ्या है, अनात्मा-पद वाच्य है। यह जो अन्नत नाम और रूपों द्वारा अभिव्यक्त और विभक्त जगत् है, यह नामरूपमय अनात्मा और मिथ्या जगत् अपना नाम और रूपों से सत् आत्मा को ढँक रखा है—आत्मा को आत्मा-रूप से पहचाना नहीं जाता—आत्मा अनात्मा से ही परिचय योग्य हो रहा है। इस कारण अनात्मा को 'विषय' कहते है। 'विषय' शब्द वि+सि+अच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है। षिञ् (सि) धातु का अर्थ बन्धन है। जो बन्धन करता है वही विषय है। अनात्मा आत्मा को बन्धन करता है—आच्छादन करता है, अपने को नाम और रूपों द्वारा निरूपणीय बनाता है—इस कारण 'अनात्मा' को 'विषय' कहा जाता है और जो विषय द्वारा बद्ध-आच्छन्न, निरूपित—होता है, वह विषयी है। सुतरां आत्मा ही विषयी या अविषय हैं और आत्मा से अतिरिक्त समस्त वस्तु विषय है। निरवयव, नित्यमुक्त, शुद्ध आत्मा का किसी प्रकार भी बन्धन न रहने से भी देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि प्रभृति उपाधि के सम्बन्ध के हेतु आत्मा बद्ध सा प्रतीयमान होता है। ये विषय और विषयी अर्थात् आत्मा और अनात्मा स्वभावतः विरुद्ध वस्तु है। जैसे आलोक और अन्धकार परस्पर विरुद्धस्वभाव हैं, ये आत्मा और अनात्मा भी वैसे ही हैं, आत्मा चेतन है, तो अनात्मा अचेतन (जड़) है, आत्मा ज्ञानस्वरूप है,

अनात्मा अज्ञ है, आत्मा सत् है, अनात्मा मिथ्या है। मिथ्यावस्तु कैसे सत्यवस्तुरूप से भासती है अथवा सत्य वस्तु मिथ्या वस्तुरूप से प्रतीत होती है इसके ही दृष्टान्तरूप में शुक्ति-रजत, रज्जु-सर्प, स्थाण-पुरुष आदि का उल्लेख किया गया है। शक्ति में रजतधर्म के समान, रज्जु में सर्प-धर्म के समान, स्थाणु में मनुष्य धर्म के समान, आत्मा में अनात्मा धर्म का अध्यास होता है। इस भाव से संसार में समस्त लौकिक व्यवहार चल रहे हैं। पूजा, अर्चना आदि व्यापार भी उसी प्रकार अध्यास मूलक हैं। विधिशास्त्र, निषेधशास्त्र और मोक्षशास्त्र भी उसी प्रकार अध्यास पूर्वक प्रवृत होते हैं। "स्वर्गकामः अग्निहोत्रं जुहुयात्"—यह विधिशास्त्र अध्यासवशतः प्रवृत्त हुआ है, क्योंकि वर्ण जातिविहीन आत्मा में ब्राह्मणत्वादि जाति-कल्पना करके यजमान स्वर्ग-कामनापूर्वक अग्निहोत्र-याग में प्रवृत्त होता है। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'—यह निषेध शास्त्र भी अध्यासमूलक है, क्योंकि हिंसापरायण व्यक्ति जब आत्मा में हनन-कर्त्तृत्व का आरोप करके दूसरों के विनाश में प्रवृत्त होता है, तब वह व्यक्ति यह निषेध वाक्य सुनकर हिंसा से निवृत होता है। विधि-निषेधशास्त्र विरहित मोक्षशास्त्र भी इसी प्रकार अध्यास मूलक है। लोग शुद्ध, नित्यमुक्त आतमा में गुरु, शिष्य भाव की कल्पना करके मोक्षशास्त्र के अध्ययन और अध्यापन में प्रवृत्त होते हैं। उपास्य-उपासकभाव, पूज्य-पूजकभाव आदि सब ही अध्यासमूलक हैं। अपने में प्रमाता की कल्पना किये बिना किसी को कोई उपदेश नहीं कर सकता। यह प्रमाता ही प्रमाज्ञान का कर्त्ता है। सुतरां अकर्त्ता आत्मा में प्रमाज्ञान का कर्त्तृत्वारोप करना ही पड़ा। और भी बिना प्रमाण से प्रमाता उपदेश दे नहीं सकता। यह प्रमाण ही प्रमा का कारण है। फिर बिना व्यापार के प्रमाता प्रमाण को कार्य में व्यापृत नहीं कर सकता, किन्तु निर्विकार आत्मा का तो किसी प्रकार भी व्यापार नहीं है। बुद्धि आदि अचेतनों के साथ तादात्म्य-अध्यासवश उनके व्यापार लेकर स्वयं आत्मा

व्यापारवान् प्रतीयमान होता है। सुतरां, शास्त्रीय व्यवहार भी अध्यास-मूलक उपपन्न हुये। अतः क्या प्रत्यक्षादि व्यवहार, क्या कर्मकाण्ड व्यवहार, क्या मोक्ष शास्त्र सर्वत्र निःसंशय अध्यास ही मूलभूत कारण है।

अनात्मा में आत्म बोध और आत्मा में अनात्मा बोध द्वारा अर्थात् अध्यास द्वारा मनुष्य का सर्व व्यवहार निष्पन्न होता है—यह बात वेदान्त-भिन्न दर्शनों में भी स्वीकार की गई हैं। परन्तु उन शास्त्र स्वीकृत अध्यास से वेदान्तदर्शनमान्य अध्यास का पार्थक्य है। नैयायिक और विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध कहते हैं—जब एक टुकड़ा शुक्ति में एक टुकड़ा रजत बोध होता है अथवा एक खण्ड रज्जु में सर्प प्रतीति होती है, तब वास्तव में यह व्यापार होता है कि सत्य रजत या सत्य सर्प के विषय में दर्शक का जो पूर्वतन ज्ञान था, वही ज्ञान शुक्ति या रज्जु रूप आश्रय का अवलम्बन कर प्रतिभासित होता है। दर्शक अपने पूर्वतन रजत ज्ञान द्वारा शुक्ति में रजत ही देख रहा है। इन दो मतों में आरोप होता है सत्य, किन्तु सत्य वस्तु में अन्य सत्य वस्तु या उसके धर्म का आरोप नहीं होता—एक सत्य वस्तु में अन्य सत्य वस्तु सम्बन्धीय ज्ञान के ही आकार का आरोप होता है। यह आरोप एक प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, यह मिथ्या प्रतीति नहीं है। अन्य प्रकार की प्रतीति है। इस प्रकार देह में जो आत्म बोध अर्थात् आत्मा में जो अहङ्कारादि का अध्यास है, वह भी मिथ्या बोध नहीं है, अन्यथा बोध या 'अन्यथा ख्याति' है। इस मतद्वय के खण्डन में वैदान्तिक कहते हैं—"अन्यथा ख्याति वादी लोग जो देशान्तरीय रजत के ज्ञान द्वारा सम्मुख स्थित शुक्ति में प्रतीति स्वीकार करते हैं, वह संगत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष होने के लिये विषय और इन्द्रिय का सम्बन्ध रहना चाहिये। देशान्तरीय वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध कैसे होगा ? सम्बन्ध हो भी जाय तो 'यह देशान्तरीय रजत है' इस प्रकार की प्रतीति होगी, 'यह रजत है' इस प्रकार प्रतीति नहीं हो सकती। और जो ज्ञान रूप सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, वह भी युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान द्वारा दूरवर्ती समस्त वस्तु प्रत्यक्ष

होने पर अनुमानादि प्रमाण समूह की कुछ आवश्यकता ही नहीं रह जाती।" सांख्य लोग कहते हैं—"सम्मुखस्थित शुक्ति और रजत दोनों परस्पर भिन्न पदार्थ हैं, किन्तु दोनों का विवेक (भेद) गृहीत न होने के कारण अर्थात् 'ये दो भिन्न वस्तुयें हैं' इस प्रकार न जानने के कारण अध्यास होता है। दो भिन्न वस्तुओं को एक भाव से जानना या एक रूप से व्यवहार करना मिथ्या है, यह अवश्य स्वीकार्य है" इस मत का खण्डन वैदान्तिक इस प्रकार से करते हैं—"अख्याति वादी (विवेकज्ञान के अभाव वादी) सांख्य का मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि सम्मुख स्थित चाक-चिक्य युक्त वस्तु में रजत ज्ञान करके ही मनुष्य उसे पाने की आशा से दौड़ता है। उसे वस्तु में रजत ज्ञान रहने के कारण ही वह रजत ग्रहण में प्रवृत्त होता है, रजत ज्ञान का अभाव रहने पर वह उसे पाने के लिये दौड़ता नहीं।" मीमांसक लोग कहते हैं—भ्रम नाम से कोई वस्तु नहीं है, सब ही सत्य ज्ञान है। शुक्ति में जो रजत की प्रतीति होती है और 'इदं रजतम्' कह कर जो व्यवहार किया जाता है, वह 'इदं' यहां पर एक भिन्न ज्ञान है, रजत भी एक स्वतन्त्र ज्ञान है 'इदं' यह प्रत्यक्ष रूप ज्ञान है और 'रजतम्' यह स्मरणरूप ज्ञान है अर्थात् पूर्व में जो सत्य रजत अनुभूत हुआ था और जो संस्कार रूप से अन्तःकरण में था, अब उसकी ही स्मृति हुई है। ये प्रत्यक्ष और स्मरणात्मक ज्ञान दो भिन्न ज्ञान हैं, किन्तु वह भेद गृहीत नहीं हो रहा है। इसी का नाम "विवेकाग्रह' है।" वैदान्तिक इसके खण्डन में कहते हैं—"अख्यातिवादी मीमांसक मत भी असङ्गत है, क्योंकि 'इदं रजतम्' इस स्थल में पूर्ववर्त्ती रजत वस्तु में जो रजत ज्ञान हो रहा है, वह एक ही ज्ञान है, दो ज्ञान नहीं। एक ही ज्ञान में सत्य और मिथ्या दो वस्तुयें रहने के कारण उसे मिथ्या ही कहना पड़ेगा। मिथ्या ज्ञान ही अध्यास है। 'इदं रजतम्' यह एक विशिष्ट ज्ञान है। इसमें 'इदं' अंश सत्य है एवं 'रजत' अंश मिथ्या है, क्योंकि रजत वहां है नहीं। सुतरां सत्य और मिथ्या वस्तु एक ज्ञान के विषय होने से

उसे मिथ्या अर्थात् अध्यास रूप कहना ही पड़ेगा। शून्यवादी (असत् ख्याति वादी) बौद्ध कहते हैं—"सब ही असत् है शुक्ति भी असत् है, क्योंकि रजत भ्रम के समय उसका शुक्ति रूप से ग्रहण नहीं होता और अनुसन्धान द्वारा रजत का ज्ञान बाधित होने से रजत भी असत् है। एक असत् वस्तु में अन्य असत् वस्तु का अध्यास होता है, उस समय पूर्व वस्तु में उसके विपरीत धर्म की कल्पना होती है। जैसे—शुक्ति में जो रजत आरोपित होता है, वह अत्यन्त असत् है—अलीक है, वह अलीक रजत ही शुक्ति में प्रकाश पाता है।" वेदान्तिक इसका खण्डन इस रीति से करते हैं "असत्-ख्यातिवाद पूर्णतया ही असङ्गत है। शशशृङ्ग, कूर्म-लोम, वन्ध्या-पुत्र आदि असत् या अलीक कहे जाते हैं। ऐसी असत् वस्तु कदापि प्रत्यक्ष नहीं हो सकती और वह 'असत् वस्तु' कदापि ज्ञान द्वारा निवृत्त भी नहीं होती। सुतरां शुक्ति में जो रजत प्रकाश पा रहा है, उसे असत् रजत का प्रकाश मानना बिलकुल ही असङ्गत है, क्योंकि असत् होता तो रजत रूप से प्रत्यक्ष न होता और 'यह रजत नहीं है' ऐसे ज्ञान से भी निवृत्त न होता।"

वेदान्तिक भी शुक्ति में रजतज्ञान-काल में वहां रजत का अभाव रहने से और विचार द्वारा रजतज्ञान बाधित होने से उसे असत् कहते हैं। किन्तु उनके मत में रजत एकान्त रूप से असत् नहीं है, क्योंकि जब शुक्ति में रजत प्रकाश पा रहा है और रजतार्थी उसे लेने के लिये दौड़ रहा है तथा 'इदं रजतम्' रूप से व्यवहार भी कर रहा है, तो उसे एकान्त रूप से असत् कैसे कहा जाय? अतएव कहना पड़ता है कि शुक्ति में अनिर्वचनीय रूप से रजत की उत्पत्ति होती है। शुक्ति का ज्ञान न होने तक उस रजत का अस्तित्व रहता है। तत्त्वज्ञान न होने तक बाह्य-जगत् को एकान्त रूप से मिथ्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी व्यावहारिक सत्यता तो रहती ही है, सुतरां अध्यास अर्थात् अनात्मा में आत्मबोध और आत्मा में अनात्मबोध वास्तव में अनिर्वचनीय व्यापार ही है।

अध्यास का नाम ही अविद्या या अज्ञान है। विद्या अर्थात् ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने पर अविद्या दूरीभूत हो जाती है और तब अविद्याजात संसार भी विलय को प्राप्त हो जाता है। यह अविद्या दो प्रकार की है—मूला अविद्या और तूलाअविद्या। ब्रह्माश्रित अविद्या का नाम 'मूलाविद्या' है और जीवाश्रित अविद्या का नाम 'तूलाविद्या' है। यह तूलाविद्या मूला विद्या से अत्यधिक अनर्थकारी है, क्योंकि तूलाविद्या आत्मा के प्रकृतस्वरूप प्रकाश में सदा बाधा डालती है। परन्तु सुषुप्ति में तूलाविद्या मूलाविद्या में विलीन रहने पर भी तूलाविद्या का कार्य संसार, शोक, दुःख प्रभृति कुछ ही प्रकाश नहीं पाता ऐसी स्थिति में मूलाविद्या वर्त्तमान रहने पर भी आत्मा का यथार्थ सच्चिदानन्द स्वरूप प्रकाश पाता है। तूलाविद्या प्रतिजीव में पृथक् पृथक् भाव से है, सुतरां असंख्य है। अतएव जिसका ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होगा उसका ही अज्ञान दूरी भूत होगा और वही मोक्ष लाभ से कृतकृत्य होगा।

४

अध्यासविषयक प्रश्नोत्तरी

(१) प्रश्न--'विषयी' और 'विषय' किसे कहते हैं ?

उत्तर--संसार में वस्तु दो प्रकार की है-एक चेतन और दूसरी अचेतन। आत्मा चेतन (चैतन्य स्वरूप) है और आत्मातिरिक्त अन्य समस्त पदार्थ हैं--अचेतन (जड़)। अतएव आत्मा समस्त सांसारिक वस्तुओं से पूर्णतः विरुद्ध स्वभाव वाला 'कुछ' इत्याकारक प्रतीति का विषय है। शरीराद्यतिरिक्तत्व रूप से प्रसिद्ध सर्वसाधारणके सुस्पष्ट अनुभव का विषय आत्मा 'नहीं है'--ऐसा कथमपि नहीं कहा जा सकता। कारण प्रत्येक प्राणी को सदा ही 'मै हूँ' इत्याकारक अविरुद्ध प्रतीत होती रहती है। अज्ञ पुरुष भी 'मै नहीं हूँ' इस प्रकार कभी नहीं सोचता। आत्मा चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर होने पर भी 'अहम्' रूप से अन्तःकरण का विषय होता ही है, इसलिये वह ज्ञानस्वरूप है। सुतराम्, वही विषयी (विषयों का आश्रय) वा अविषय सिद्ध हुआ। अचेतन वा अनात्मा (इन्द्रिय गोचर पदार्थ) विषय पद वाच्य हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध--इन पाँचों को विषय कहते हैं, क्योंकि ये पाँचों इन्द्रियों से उपलब्ध होते और आत्मा का बन्धन करते हैं। 'विषय' शब्द के मूलभूत षिञ् (सि धातु) का अर्थ है--बन्धन। उससे अच् प्रत्ययकर (वि+सि+अच्) 'विषय' शब्द निष्पन्न हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि विषय ही बन्धन करता है। जिस प्रकार रज्जु अपने आपको न बाँधकर पशु आदि को

बाँधती है, उसी प्रकार विषय भी अपने आपको न बाँधकर आत्मा को ही बाँधते हैं।

(२) प्रश्न—निरवयव और नित्यमुक्त आत्मा का बन्धन क्या है ?

उत्तर—सच है कि 'मैं-मैं' सभी कहते हैं, किन्तु स्थिर चित्त से विचार करने पर पता चल सकेगा कि इसमें या आत्मा के सम्बन्ध में घोरतम विरोध चल रहा है। जब कहा जाता है कि 'मैं अन्धा हूँ, मैं खञ्ज हूँ, मैं जाता हूँ' तब देह को ही आत्मा मान लिया जाता है। फिर जब कहते हैं कि 'मेरे हाथ में बड़ी चोट लगी है, मेरा मन आज अच्छा नहीं है,' तब देहातिरिक्त 'और कुछ' को आत्मा स्वीकार किया जाता है। अतएव यद्यपि सभी मैं-मैं कहते हैं; तथापि यथार्थ में कोई विरला ही मैं को समझने में समर्थ होता ह। आत्मा के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान का अभाव ही इसका एकमात्र कारण है। अतएव स्वयं शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा को कोई बन्धन न होने पर भी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति उपाधि के सम्बन्धवश वह (आत्मा) बद्धसा प्रतीत होता है। इस आत्मा का 'अहम्' शब्द द्वारा व्यवहार किया जाता है और अनात्मा का 'इदम्' शब्द द्वारा प्रकाश होता है। भगवान् भाष्यकार ने भी 'युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोः' प्रभृति वाक्यों द्वारा इसी रहस्य का निर्देश किया है।

(३) प्रश्न—जिस प्रकार 'अहम्' अर्थात् मैं शब्द के द्वारा आत्मा समझा जाता है, उसी प्रकार 'युष्मत्' अर्थात् तुम शब्द द्वारा अनात्मा नहीं समझा जाता, वह तो 'इदम्' शब्द द्वारा ही समझा जाता है। अतः 'इदमस्मत् प्रत्ययगोचरयोः' कहना चाहिये था। वह न कह कर 'युष्मदस्मत् प्रत्यय-गोचरयोः' कैसे कहा ?

उत्तर—ठीक ही कहा है। अनादि काल से ही लौकिक एवं वैदिक वाक्यों में 'इदम्' शब्द के साथ 'अस्मत्' शब्द का ही व्यवहार (एकत्र प्रयोग) देखा गया है जैसे—"इमे वयमास्महे", 'अयमहमस्मि'। फिर भी यदि आचार्यपाद ने 'युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोः' न कह कर 'इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' कहा होता, तो आत्मा और अनात्मा के

विरुद्ध स्वभाव का स्पष्टीकरण न होता। दो विरुद्ध वस्तुयें कदापि एकत्र नहीं रह सकतीं। किन्तु 'इदम्' 'अस्मत्' तो एकत्र रहते हैं। इसके बिपरीत 'युष्मत्-अस्मत्' का एकत्र प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता अतः उससे दोनों का परस्पर विरोध ज्ञातव्य है। इसीलिए भाष्यकार ने आलोक और अंधकार के दृष्टान्त से इस विषय को स्पष्टतः समझा दिया है। सुतराम्, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और अनात्मा का विरुद्ध स्वभाव और उन दोनों के एकानव स्थान की निश्चितता समझाने के लिये ही 'युष्मत्' शब्द का प्रयोग किया गया हैं।

४-प्रश्न—यहां 'विरोध' शब्द का अर्थ क्या है?

उत्तर—विरोध का अर्थ एकत्र न रहना है। जहां अन्धकार है, वहाँ आलोक नही रहता और जहाँ आलोक रहता है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता। प्रकृत में आत्मा और अनात्मा का इसी प्रकार का विरोध जानना चाहिए। "तमःप्रकाशवत्" कह कर इसका ही निर्देश किया गया हैं। 'प्रत्यय' पद द्वारा भी विरोध कहा गया है, क्योंकि अहंकार आदि अनात्मा तो द्रश्यरूप से प्रकाश पा रहा है (प्रतीयत इतिप्रत्ययः) किन्तु आत्मा तो स्वप्रकाश रूप से ही प्रकाशमान है (प्रतोतित्वात्-प्रत्ययः)। 'गोचर' पद द्वारा भी व्यवहारतः विरोध कहा गया है, क्योंकि प्रत्यगात्मा के तिरस्कारपूर्वक 'मैं कर्त्ता हूं' 'मैं भोक्ता हूं' इत्यादि व्यवहार 'युष्मत्' शब्द का अर्थ देखा जाता है, परन्तु आत्मा के प्रविलापन द्वारा 'अहंब्रह्म, इस प्रकार का व्यवहार 'अस्मत्' शब्द का अर्थ होता हैं। इस रीति से तीन प्रकार के विरोधों का स्पष्टीकरण 'युष्मदस्मत्-प्रत्यय गोचरयोः' पद से किया गया हैं।

५-प्रश्न—तादात्म्य किसे कहते है?

उत्तर—'भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्' जहाँ भेद प्रतीत रहने पर भी अभेद होता है, वहीं तादात्म्य शब्द का व्यवहार होता है जैसे लाल तपा लोहा किसी के शरीर को छुआने पर वह कहता है—'लोहे ने मेरा शरीर जला दिया,' किन्तु वास्तव मे लोहा तो जलाता ही नहीं।

दाहिका शक्ति उसमें नहीं है, वह तो अग्नि में हैं। लोहा अग्नि के साथ मिल उसको दाहकत्व शक्ति लेकर शरीर को जलाता है, पर वह व्यक्ति अग्नि और लोहे का पार्थक्य न समझ कर कहता है- 'लोहे ने मेरा शरीर जला दिया' । यहाँ पर अग्नि और लोहे का तादात्म्य जानना चाहिए। अर्थात् लोह अग्नि तादात्म्यापन्न होकर जल रहा है। आत्मा और अनात्मा का इस प्रकार तादात्म्य हो नही सकता। कारण वह (आत्मा) निरवयव और निर्लेप है।

६—प्रश्न—आत्मा और अनात्मा का भले ही तादात्म्य न हो किन्तु आत्मा में अनात्मा के धर्म अनित्यत्व, जड़त्व का तथा अनात्मा में आत्म धर्म चैतन्य और नित्यत्व का संसर्ग तो हो ही सकता है ?

उत्तर—वह भी सम्भव नहीं। कारण अध्यास दो प्रकार का होता है - एक धर्मी-अध्यास अथवा तादात्म्याध्यास और दूसरा धर्म-अध्यास वा ससर्गाध्यास। वही धर्माध्यास पुनः दो प्रकार का होता है—एक तादात्म्याध्यास मूलक और दूसरा प्रतिबिम्व मूलक। अर्थात् धर्मिद्वय का जहाँतादात्म्याध्यास वा प्रतिबिम्बाध्यास होगा, वहीं धर्माध्यास भी होगा। रूपवान वस्तु का ही प्रतिबिम्ब होता है। जैसे स्फटिक में जपाकुसुम का, तद्गत लौहित्य धर्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है किन्तु रूपहीन वस्तु का प्रतिबिम्ब नही होता। आत्मा में रूप नही है सुतराम् उसमें प्रतिबिम्ब का होना असम्भव है। अतएव प्रतिबिम्बमूलक धर्माध्यास नहीं हो सकता। आत्मा में तादात्म्य मूलक धर्माध्यास भी सम्भव नहीं, कारण धर्मिद्वय का तादात्म्याध्यास हुये बिना धर्मसमूह का संसर्ग भी नही हो सकता। भाष्य में 'इतरेतरभावानुपपत्तिः' इससे अपर धर्मी में अपर धर्मी का धर्म समूह का विनिमय अर्थात् स्वकीय धर्मी के अन्यत्र प्रकाश को असम्भव कहा गया है। फिर भी वह अध्यास दो प्रकार का है एक सोपाधिक और दूसरा निरुपाधिक। प्रतिबिम्ब स्थल में ही सोपाधिक अध्यास होता हैं, क्योंकि वहाँ उपाधि और प्रतिबिम्बि दोनों ही रहते हैं। जैसे दर्पण, जल, प्रभृति उपाधि में ही प्रतिबिम्ब गिरता है,

वह सोपाधिक अध्यास है। रज्जु, सर्प प्रभृति स्थलों में निरुपाधिक अध्यास है, कारण वहाँ कोई उपाधि ही नहीं है।

प्रश्न—अध्यास का कारण क्या है ?

उत्तर—'आत्मा देह प्रभृति से भिन्न है, इत्याकारक ज्ञान का अभाव ही अध्यास का कारण है। अर्थात् 'देहादि ही आत्मा है' इस प्रकार का मिथ्याज्ञान ही अध्यास का कारण है। दो परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाली वस्तुओं में एक को अपर मान लेना सङ्गत नहीं। युक्ति का विचार करके देखने से अध्यास रहता नहीं अथवा रह नहीं सकता। परन्तु यक्तिबल से 'अध्यास' प्रतिपन्नन होने पर भी 'अध्यास, को बिल्कुल अस्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि व्यवहार क्षेत्र में वह अहरहः कार्य कर रहा है। मानों यह (अध्यास) जीव का एकांत स्वाभाविक है, इसे अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं है। आत्मा अविकृत चैतन्य स्वरूप है और देह प्रभृति के धर्म जरा, मरण, शोक, आदि हैं। इन दो परस्पर विरुद्ध स्वभाव वस्तुओं का परस्पर मेंअध्यास होना उचित नही। किन्तु 'मैं' उत्पन्न हुआ, मैं रुग्ण हुआ, मैं मरा इत्यादि संसार में जो कुछ व्यवहार होता है, सब अध्यास मूलक है—उसके बिना किसी प्रकार व्यवहार नहीं चल सकता।

वास्तव में अध्यास का अस्तित्व ही उचित नहीं। जिसमें किसी वस्तु का अध्यास का आरोप होता है, उसका नाम 'अधिष्ठान' है, जैसे शुक्ति में भ्रमवश रजत का आरोप होता है। यहां पर शुक्ति अधिष्ठान है और रजत है-आरोप्य। अधिष्ठान में आरोप्य का भ्रम होने से पूर्व अधिष्ठान समानांश और आरोप्य विशेष के परस्पर ऐक्य का प्रमात्मक ज्ञान होना आवश्यक है और इसी सत्य ज्ञान के निमित्त संस्कार का रहना भी आवश्यक है। यही संस्कार अध्यास का कारण है। वास्तविक प्रसिद्ध जो सत्य वस्तु रजत, सर्प आदि है, उसके अनुभव से जनित संस्कारआदि के अधीन होकर रजत और सर्पादि के अधिष्ठान (आश्रय)-भूत शुक्ति, रज्जु आदि में उन दोनों के भेद के अग्रह (अननु-

भव) से क्रमशः रजत और सर्प रूप से आरोप (मिथ्याज्ञान) होता है। किन्तु ब्रह्मात्मैकत्वपक्ष में (अद्वैतवाद में) वास्तविक सत्य वस्तु अहङ्कारादि अनात्मवर्ग के (जड़ समूह के) अभाव से पूर्व प्रमाजनित संस्कार आदि का अभाव - हेतु ब्रह्म (आत्मा) में जड़-समूह (जगत्-अनात्मा) का आरोप (अध्यास) सम्भव नहीं । ईश्वर भी अत्यंत असत् विषय को किसी की बुद्धि में आरूढ़ नहीं कर सकता। स्वप्न में भी कदापि किसी अननुभूत विषय का अनुभव नहीं होता। मायावी कभी अत्यंत असत् विषय को दिखाने में समर्थ नहीं होता वह भी लोक प्रसिद्ध वस्तु को प्रकारान्तर से दिखलाता है। अतएव अद्वैतवाद - सिद्धांत में वस्तुतः सत्य वस्तु प्रपञ्च के (जगत् के) अभाव-हेतु आरोप (अध्यास) का भी अभाव है। अर्थात् आत्मा में अनात्मा का अध्यास युक्तिसङ्गत नहीं।

सारांश, आत्मा में अनात्मा के अध्यास के लिये दोनों का ऐक्य (प्रमाज्ञान) रहना चाहिये और दोनों के ऐक्य-प्रमाज्ञान के लिये आत्मा और अनात्मा का यथार्थ ऐक्य रहना आवश्यक है। किन्तु वास्तव में दोनों तो एक हैं नहीं। सुतराम्, आत्मा-अनात्मा का अध्यास असम्भव हुआ। इसी कारण भाष्य में " इत्यतः " (इति + अतः) शब्द का प्रयोग किया गया है। इति अर्थात् पूर्वोक्त रूप से आत्मा और अनात्मा का तादात्म्य न हो सकने के कारण, दोनों के ऐक्य प्रमा के अभाव–हेतु, अध्यास का कारणीभूत प्रमाजन्य संस्कार न रह जाने से अध्यास ही मिथ्या हो रहा है। "अध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्" । मिथ्या दो प्रकार का है—एक अपह्नव और दूसरा अनिर्वचनीय। भाष्य प्रयुक्त मिथ्या शब्द का अपह्नव अर्थ है।

"युष्मदस्मत् - प्रत्ययगोचरयो·····भवितुं युक्तम्" यहां तक पूर्वपक्ष भाष्य है, " तथापि···लोकव्यवहारः " यहाँ तक सिद्धांत-भाष्य है। भाष्य में 'तथापि' पद रहने के कारण उससे पूर्व 'यद्यपि' पद का अध्याहार कर लेना चाहिये।

पूर्व वर्णित अध्यास पुनः दो प्रकार का है—एक अर्थाध्यास और दूसरा ज्ञानाध्यास। 'मैं मनुष्य हूं' इत्याकारक अभिमान का नाम 'अर्थाध्यास' है और इसका व्यवहार अर्थात् उसी प्रकार की बुद्धि ही 'ज्ञानाध्यास' कहा गया है। भगवान् 'भाष्यकार' ने 'लोकव्यवहारः' पद से दोनों अध्यास स्वीकार किये है। "अन्योऽन्यस्मिन् धर्मिणोः" यहां तक भाष्यद्वारा इन दोनों अध्यास के स्वरूप और लक्षण कहे गये हैं। चैतन्य स्वरूप होने के कारण बिषयी बुद्धि आदि का साक्षी अर्थात् दृष्टा होता है। चैतन्य द्वारा प्रकाशित न होने पर किसी भी जड़ वस्तु का अस्तित्व उपलब्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन द्वारा भी अचेतन वस्तु प्रकाशित होती है। अतएव चेतन की सत्ता से अतिरिक्त अचेतन की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। जिस प्रकार वस्तुतः अखण्ड महाकाश का किसी प्रकार भेद न रहने पर भी घट, कमण्डलु प्रभृति उपाधि के भेद से वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार अन्तःकरणादि उपाधि में प्रतिविम्बित एक अखण्ड चैतन्य भी उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है और उस चेतन आत्मा में अचेतन अनात्मा का और उस अनात्मा के कार्यसमूह का अध्यास होता है। इसी प्रकार उसके विपरीत भाव से अनात्मा में आत्मा और आत्मधर्म-समूह का अध्यास हो जाता है। आत्मा के सर्वथा धर्म रहितहोने पर भी सत्, चित् और आनन्द जो आत्मा का स्वरूप हैं और जो परस्पर अपृथक् है, उन्हें लोग भिन्न रूप से देखते हैं।

प्रश्न—धर्मिद्वय का तादात्म्याध्यास होने पर तो धर्माध्यास होता ही है, तो फिर भाष्य में पृथक् रूप से धर्माध्यास क्यों कहा गया है?

उत्तर—'मैं अन्ध हूं,' यहां पर अन्धत्व चक्षुरिन्द्रिय का धर्म है। धर्मिरूप आत्मा में उसका अध्यास होता है, परन्तु यहां पर धर्मिद्वय का अध्यास स्पष्टरूप से प्रतीत नहीं हो रहा है, इसलिये धर्माध्यास का पृथक् उल्लेख किया गया है।

प्रश्न—पहले ही कहा गया है कि अधिष्ठान-सामान्यांश और

आरोप्य-विशेषांश का ऐक्यप्रमाज्ञानजन्य संस्कार ही अध्यास का कारण है। आत्मा और अनात्मा के परस्पर-विरुद्ध स्वभाव होने से, दोनों का ऐक्य न रहने के कारण उन दोनों का ऐक्य प्रमाज्ञान नहीं हो सकता, अतएव, आत्मा और अनात्मा का अध्यास नहीं हो सकता।

उत्तर—यह आपत्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिन दो वस्तुओं का अध्यास होता है, पहले उनका ज्ञान रहना आवश्यक होने पर भी उस ज्ञान के प्रमाज्ञान होने का कोई नियम नहीं है। पूर्व-पूर्व भ्रमज्ञान से उत्तरोत्तर अध्यास होने में कोई बाधा नहीं। इसलिये भाष्यकार ने 'मिथ्याज्ञाननिमित्तः' कहा है। अर्थात् मिथ्या अज्ञान ही अध्यास का निमित्त अर्थात् उपादान कारण है। यहां 'मिथ्या' शब्द से अज्ञान का लक्षण कहा गया है। जो मिथ्या होकर साक्षात् ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है, उसका नाम 'अज्ञान' है। यद्यपि वास्तव में इस प्रकार का अध्यास (आरोप) अयुक्त ही है, तथापि अज्ञानी मनुष्य प्रतिदिन ऐसा ही अनुभव करता है। यथा—मैं मनुष्य, मैं स्थूल, मैं कृश हूँ, मैं गौरवर्ण हूँ, मैं शिशु हूँ, मैं युवक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं मूक हूँ, मैं वधिर हूँ, मैं अन्ध हूँ, मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं गन्ता हूँ, मैं स्थाता हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं मूढ़ हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मेरा यह शरीर, मेरा अन्तःकरण, मेरा सुख मेरा दुःख इत्यादि रूप, मिथ्या-अविद्या के उपादान हेतु (मिथ्याज्ञान निबन्धन) असत्य देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और उनके धर्मादि का (जाड्य, अनित्यत्व प्रभृति का), सत्यस्वरूप परमात्मा असङ्ग (निर्लिप्त) होने पर भी, उसमें (परमात्मा में) और उसके विपर्यय (देहादि) में आत्मा और आत्मधर्म का (आत्मा में वास्तविक किसी प्रकार का धर्म न रहने पर भी आरोपित चैतन्य तथा नित्यत्व धर्म है) परस्परात्मकत्व रूप से यथा सम्भव भेद का अग्रह (भेदज्ञान का अभाव) हेतु, तादात्म्य-रूप से (अभेदरूप से) एवं असम्बन्धित्व ज्ञान न रहने के कारण, अर्थात् देहादि के साथ आत्मा का सम्बन्धित्व (सम्बन्ध विशिष्टत्व) ज्ञान न रहने के कारण संसर्ग (सम्बन्ध) रूप से, "अतस्मिंस्तद् बुद्धिलक्षणो

व्यवहारः" जो जैसा नहीं है, उसमें उसका ज्ञान रूपव्यवहार (आरोप, अध्यास) अनुभूत हो रहा है। आलोक और अन्धकार के समान अत्यन्त विरुद्ध स्वभावविशिष्ट सत्य और मिथ्या वस्तु आत्मा (स्वरूप चैतन्य) और अनात्मा (अहङ्कारादि जड़ पदार्थ) का वास्तविक तादात्म्यावगाहि ज्ञान (अभेद ज्ञान) और संसर्गावगाहि ज्ञान (सम्बन्धविशिष्टत्वज्ञान) आरोप (अध्यास) के व्यतीत किसी भी प्रकार से युक्ति-युक्त हो नहीं सकता। प्रतीयमान जड़ादि को किसी भी प्रकार से आत्मा नहीं कहा जा सकता। वह तो श्रुति और अनुभव से विरुद्ध है। कहा गया है कि "अहंकर्त्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलेति या मतिः। सा चाहङ्कार-कर्त्तृत्वादात्मन्यारोपिता जनैः॥" अर्थात् मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं कृश, मैं स्थूल—इस प्रकार का ज्ञान अहङ्कार के कारण मनुष्य आत्मा में आरोपित करते हैं। 'अद्वैतसिद्धि' में भी कहा गया है—"तस्मात् सिद्धं मनसः कर्त्तृत्वमात्मन्यारोप्यत इति"। इसलिये आत्मा में मन के कर्त्तृत्व का आरोप सिद्ध हुआ। भगवान् ने भी गीता में कहा है—"अहङ्कार विमूढात्मा कर्त्ताहमितिमन्यते' अर्थात् अहङ्कार-विमूढ़ (मोह प्राप्त) जीव 'मैं कर्त्ता हूँ' इस प्रकार आत्मा का कर्त्तृत्व मानते हैं (वास्तविक आत्मा का कर्त्तृत्व नहीं है)। जिस प्रकार कहा जाता है—लौहपिण्ड दहन कर रहा है, वास्तविक दाहिकाशक्ति और दहनकर्त्तृत्व अग्नि का ही है, लौहपिण्ड का नहीं, किन्तु अग्नि के साथ तादात्म्य अर्थात् एकता प्राप्त होजाने के कारण ही इस प्रकार (लौह-पिण्ड में दहन कर्त्तृत्व) की प्रतीति होती है। उसी प्रकार 'मैं उपलब्धि कर रहा हूँ' मैं (आत्मा) निर्गुण (गुणरहित) होने पर भी उसमें कर्त्तृत्व प्रभृति का अनुभव हो रहा है। सुतरां इसे अवश्य ही अध्यासमूलक कहना पड़ेगा। इस प्रकार का ज्ञान प्रतिदिन हो रहा है, अतएव अध्यास अनुभव-सिद्ध है।

प्रश्न—आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास मानने से शून्य-वाद सिद्ध होगा, अर्थात् अनात्मा में आत्मा का अध्यास होने पर आत्म

स्वरूप का नाश होता है और चित् स्वरूप आत्मा के अभाव से जगत् अन्ध हो जाता है।

उत्तर—आत्मा का अनात्मा में जो अध्यास होता है, उसमें आत्मा का स्वरूप का अध्यासन होकर केवल संसर्ग मात्र का ही अध्यास होता है, सुतरां आत्मस्वरूप का अभाव हो नहीं सकता और जगत् भी अन्ध नहीं हो जाता। "सत्यानृते मिथुनीकृत्य" कहकर इसका स्पष्टीकरण किया गया है। आध्यात्मिक कार्य (विषय) के अध्यास में 'अहं'—रूप में अहंकार का प्रथम अध्यास होता है अर्थात् प्रथमतः 'मैं मनुष्य, मैं स्थूल' इस प्रकार तादात्म्य-अध्यास होता है। इसके उपरान्त बाह्य-देहादि का तादात्म्य (अभेद, ऐक्य) रूप से, और 'मम' रूप से संसर्ग का (सम्बन्ध का) अध्यास (आरोप) होता है अर्थात् 'मेरा पुत्र, मेरा धन' इस प्रकार संसर्ग-अध्यास हो जाता है। 'अहं' इस अध्यास में चिदात्मा (चैतन्य स्वरूप, प्रकाशरूप आत्मा) प्रकाशित हो जाता है। ऐसा न होने पर किसी भी वस्तु की प्रतीति नहीं हो सकती। यह अध्यास अनादि अनन्त काल से चला आ रहा है। 'नैसर्गिकः' पद द्वारा इसकी सूचना की गई है। अध्यासमूलक संस्कार और संस्कारमूलक अध्यास होता है, इस रीति से अध्यास-प्रवाह अनादि है। पूर्व-पूर्व अध्यास का संस्कार जनित उत्तरोत्तर अध्यास होता है। इस प्रकार अध्यास के सिद्ध हो जाने पर ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य-विषय में किसी प्रकार का विरोध न रह गया। जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही वेदान्त-शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। जीव और ब्रह्म का वह ऐक्य अज्ञात रहने पर विषय होता है और ज्ञात हो जाने से ही प्रयोजन होता है। शास्त्र के साथ विषय का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध है और मुमुक्षु ही इस शास्त्र का अधिकारी है।

प्रश्न—अध्यास का लक्षण क्या है ?

उत्तर—मनुष्य जिस किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, सामान्य प्रणिधान करने से ही समझ सकता है कि अवस्था के परिवर्तन के साथ,

जिसे 'मैं' वा आत्मा कहा जाता है, उसका कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। केवल–मैं ऐसा था, ऐसा हूँ, ऐसा रहूँगा—इस प्रकार विभिन्न अवस्था के साथ 'मैं' को जोड़कर ही आत्मा को परिवर्तनशील मान लिया जाता है। नहीं तो किसी भी अवस्था में क्यों न रहा जाय, समस्त अवस्थाओं में आत्मा अपरिवर्तनीय अखण्डरूप से रहता है, यह स्वतः सिद्ध चिरन्तन सत्य है। इस चिरस्थिर अखण्ड वस्तु को विभिन्न अवस्थाओं के साथ अभिन्न मानकर परिवर्तनशील, सुखी, दुःखी इत्यादि स्वीकार किया जाता है। एक वस्तु को अन्य वस्तु मान लेना ही इसका कारण है। इस प्रकार मानना ही वेदान्त शास्त्र में 'अध्यास' कहा जाता है। मान लीजिये कि किसी ने चांदी का एक टुकड़ा देखा। उस चांदी के बारे में एक ज्ञान उसकी स्मृति में रह गया। कुछ दिनों के बाद नदी के किनारे उत्तप्त रेती के ऊपर मानों एक टुकड़ा चाँदी का उसने देख पाया। वास्तव में वह एक सीप थी जो सूर्य-किरणों से चमक रही थी। इस प्रकार सीप को चांदी मान लेना ही 'अध्यास' का भ्रम है। किन्तु यह जो सीप में चांदी का ज्ञान हुआ, वह मिथ्या ज्ञान है, क्योंकि असल में चांदी वहाँ नहीं थी। अतएव एक वस्तु को पूर्वदृष्ट अन्य किसी वस्तु रूप से मानना ही 'अध्यास' है और यह अध्यास स्मृतिज्ञान के सदृश है। भाष्य में "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" इस वाक्य द्वारा अध्यास का लक्षण कहा गया है। इसमें 'परत्रावभासः' अंश ही अध्यास का लक्षण है, शेष 'स्मृति रूपः' और 'पूर्वदृष्टः' पदों से अध्यास का उपपादन किया गया है। जो अवभासित अर्थात् प्रकाशित होता है, उसका नाम 'अव-भास' है। 'भास' धातु का अर्थ दीप्त है। और रजतादि पदार्थ का अवभास होता है। शुक्ति रजत का वास्तविक अधिकरण नहीं है, यह अयोग्य अधिकरण 'परत्र' शब्द द्वारा कहा गया है। जो वस्तु जिसका वास्तविक अधिकरण आश्रय नहीं है, उस अयोग्य अधिकरण को 'परत्र' से कहा गया है। शुक्ति रूप अयोग्य अधिकरण में रजत का जो अवभास और उपलब्धि, उसका नाम 'अध्यास' है।

'स्मृ' धातु का अर्थ स्मरण करना है। जो स्मृत होता है, उसका नाम स्मृति है। विना अनुभव के स्मृति कदापि नहीं हो सकती। अनुभव का विलय होने पर वह संस्कार रूप से रहती है। अनुभूत वस्तु संस्कार रूप से रहकर स्मृति-पथ से—स्मृत वस्तुरूप से—सत्य वस्तुरूप से उदित होती है। जैसे शुक्ति में जो रजत प्रकाशित होता है वह सत्य रजत के सदृश होता है। 'पूर्वदृष्ट' पद में 'दृष्ट' शब्द का अर्थ 'दर्शन' है। यह दर्शन पहले रहना आवश्यक होता है, वर्तमान दर्शन अध्यास में उपयोगी नहीं हो सकता। स्मृति और अध्यास—दोनों संस्कार जन्य होने से उनका परस्पर सादृश्य है।

अध्यास का यह लक्षण अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास, दोनों में ही घटता है। पूर्व-दर्शन के कारण अन्य वस्तु में स्मृत सत्य रजत के सदृश रजत-दर्शन का नाम 'अर्थाध्यास' है और पूर्व-दर्शन के कारण अन्यत्र स्मृत के सदृश वस्तु का अवभास 'ज्ञानाध्यास' है। जैसे बाह्य शुक्ति प्रभृति में रजत उत्पन्न होकर प्रकाश पाता है वैसे ही हमारे अन्दर भी शुक्ति रजत रूप से अनुभूत होती है, वह रजत प्रातीतिक वा प्रातिभासिक रजत कहा जाता है। सुतरां दोनों अध्यास उपपन्न हैं।

प्रश्न—स्मृति और अध्यास जब दोनों संस्कार से उत्पन्न होते हैं, तब क्या स्मृति भी अध्यास ही है?

उत्तर—नहीं, स्मृति केवल संस्कार से ही उत्पन्न होती है और अध्यास चाकचिक्यादि-दोष के साथ संस्कार से उत्पन्न होता है, अतः स्मृति में अध्यास का लक्षण नहीं घटता।

यह अध्यास क्या है और क्यों होता है? इसके निर्णय में प्रवृत्त होकर विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। अन्यथा ख्यातिवादी नैयायिक तथा आत्मख्यातिवादी विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध कहते हैं कि एक धर्मी (वस्तु) में किसी अन्य वस्तु के किसी गुण वा धर्म की प्रतीति अध्यास है। जैसे आकाश को नील मानना। "अन्यत्रान्यधर्माध्यासः—" अन्यत्र अर्थात् शुक्ति प्रभृति में अन्य धर्म का

अर्थात् अन्यत्र स्थित सत्य रजत का अवयव-धर्म का अध्यास होता है। किसी ने घर में रजत देखा, उसे रजत का अनुभव था। जब उसने सामने शुक्ति को देखा, तब रजत के साथ शुक्ति के चाकचिक्यादि सादृश्य के कारण सत्य रजत की स्मृति हुई। ज्ञानरूप सम्बन्ध द्वारा वह सत्य रजत उसमें प्रकाशित हुआ। अख्यातिवादी सांख्य और प्रभाकरमतावलम्बी मीमांसक कहते हैं कि जिन दो पदार्थों का परस्पर अध्यास होता है, उन दोनों में जो पार्थक्य रहता है उस पार्थक्य का ज्ञान न रहने से ही उस प्रकार का अध्यास वा मिथ्याज्ञान होता है। सांख्यों का कहना है—सम्मुखस्थित शुक्ति और रजत, दो परस्पर भिन्न पदार्थ हैं, किन्तु दोनों का विवेक, भेद वा भिन्नत्व नहीं जाना जा रहा है, अतएव दो भिन्न वस्तुओं को एक भाव से जानना वा एक रूप से व्यवहार करना मिथ्या वा अध्यास है यह अवश्य स्वीकार्य ह। प्रभाकर मतावलम्बी कहते हैं कि भ्रम नाम की कोई वस्तु नहीं है, सभी ज्ञान सत्य हैं। शुक्ति में जो रजत की प्रतीत होती है और 'इदं रजतम्' कह कर जो व्यवहार होता है, ये दोनों भिन्न ज्ञान हैं अर्थात् 'इदं' एक भिन्न ज्ञान है, रजत भी एक भिन्न ज्ञान है। 'इदं' प्रत्यक्ष-रूप ज्ञान है और 'रजतम्' स्मरणरूप ज्ञान है अर्थात् अतीत में जिस सत्य रजत का अनुभव हुआ था और जो संस्कार रूपसे अन्तःकरणमें विद्यमान-था, अधुना उसकी ही स्मृति हुई। ये प्रत्यक्ष और स्मरणात्मक ज्ञान दो भिन्न ज्ञान हैं, किन्तु वह भेद, भिन्नत्व वा विवेक नहीं जाना जा रहा है। इसका नाम 'विवेकाग्रह' है। इसे प्रभाकरपन्थी भ्रम का अध्यास न मानने पर भी 'इदं रजतम्' को एक विशिष्ट ज्ञान स्वीकार करते हैं, अतः अध्यास का स्वीकार हो गया। असत्-ख्यातिवादी अर्थात् शून्यवादी बौद्धों का कहना है कि जिसमें अध्यास होता है, उसमें उसके (अधिकरण के) ही विपरीत किसी गुण वा धर्म का बोध होना ही अध्यास है—"यत्र यदध्यासस्तस्तस्यैव विपरीत धर्मत्वकल्पनाम् आचक्षत इति"। जैसे शुक्तिमें जो रजत आरोपित होता है, वह अत्यन्त असत् ह। वह असत् रजत ही

शुक्तिमें प्रकाश पाता है। किन्तु कोई जिस किसी भी भावनासे व्याख्या क्यों न करें, अधिष्ठान तथा आरोप का विवाद रहने पर भी, एक पदार्थ में अन्य पदार्थ की किंवा उसमें जो गुण वा धर्म नहीं हैं, उस गुण वा धर्म की कल्पना ही अध्यास है, इस विषय में सभी एक मत हैं—"सर्वथापि त्वन्यस्यान्य धर्मावभासतां न व्यभिचरति"। अध्यास के दो दृष्टान्त दिये गये हैं—एक निरुपाधिक अध्यास का और दूसरा सोपाधिक अध्यास का, यथा—" शुक्तिका हि रजतवदवभासते" और "एकश्चन्द्रः सद्वितीयवत्"

जिस समय रज्जु में सर्पभ्रम होता है, उस समय यह रज्जु सांप के सदृश है ऐसा ज्ञान नहीं रहता, यह सांप है ऐसा ही होता है। इसके उपरान्त भ्रम के मिट जाने पर कहा जाता है कि 'यह रस्सी सांप के सदृश भास रही थी।' जिसमें अध्यास होता है अर्थात् जो अध्यास का आधार होता है, वह सत्य होता है और जो अध्यस्त होता है, वह मिथ्या होता है। किन्तु मिथ्या होने पर भी वह आकाश-कुसुमवत् अलीक नहीं होता, तब तो उसकी किसी प्रकार की प्रतीति ही नहीं हो सकती थी, वास्तविक पक्ष में वस्तु न रहने पर भी, मानो यथार्थ हो 'है' ऐसा बोध होता है—यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है। अतः अध्यास का स्वरूप-निरूपण किया जा नहीं सकता, अतएव उसे 'अनिर्वचनीय' ही कहना पड़ता है। जब शुक्ति में रजत प्रकाशित हो रहा है और रजतार्थी उसे लेने के लिये दौड़ रहा है एवं 'यह रजत है' इस प्रकार व्यवहार भी कर रहा है, तब सकल वादियों को इस स्थल में अनिच्छा रहने पर भी अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी। जब तक शुक्ति का ज्ञान नहीं होता, तब तक उस रजत का अस्तित्व रहता है।

प्रश्न—जो विषय अर्थात् इन्द्रिय गोचर पदार्थ है, उसमें ही अन्य किसी विषय का अध्यास होना देखा जाता है। किसी ने आज एक विषय का प्रत्यक्ष किया, कुछ दिनों के बाद और

एक विषय देखकर पूर्वदृष्ट विषयरूप से भ्रम हुआ, जैसे बाह्य शुक्ति प्रभृति में रजतादि का अध्यास होता है। किन्तु जिसे कभी नहीं देखा किंवा जिसे प्रत्यक्ष करने का कोई उपाय नहीं है, उस विषय का भ्रम नहीं हो सकता। युष्मत्प्रत्यय के अतीत रूपविहीन अवयवशून्य "न चक्षुषा गृह्यते" (मु० ३।१।८) प्रत्यगात्मा को अविषय (इन्द्रियों से अग्राह्य) कहा गया है अर्थात् आत्मा किसी इन्द्रिय द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता, तब उस अविषय आत्मा में अहङ्कारादि विषय और विषय-धर्म (जरा,मरण प्रभृति) का अध्यास कैसे हो सकता है? आत्मा में अध्यास सिद्धि के लिये आत्मा को अधिष्ठान मानना पड़ेगा और तब आत्मा 'विषय' ही हो जायगा।

उत्तर—यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा बिल्कुल ही अविषय है अर्थात् आत्मा की हमें किसी भी प्रकार की सामान्य उपलब्धि भी नहीं है। शुद्ध आत्मा किसी का विषय न होने पर भी उपाधि-विशिष्ट आत्मा अहं-प्रत्यय का विषय होता ही है। सभी को 'अहं, अहं' इस प्रकार बोध होता है। अतएव आत्मा 'मैं मैं'—इस साधारण बोध का विषय है। आत्मा है अर्थात् मैं हूं—इस प्रकार का ज्ञान सभी को होता है। अतः आत्मा को पूर्णतया अज्ञात वस्तु नहीं कहा जा सकता। आरोप्य अहङ्कारादि जड़वर्ग, वस्तुतः असत् (मिथ्या) होने पर भी व्यवहारिक रूप से सत्य ही है। आरोप ज्ञान में पूर्व प्रतीतिमात्र की ही उपयोगिता है, आरोप्य की परमार्थ सत्ता नहीं रहती। ऐसा कोई नियम नहीं है कि चक्षु के सामने विद्यमान एक विषय में ही अन्य एक प्रत्यक्षीकृत विषय का अध्यास हो अन्यत्र न हो, क्योंकि इन्द्रिय के अगोचर रूपरहित आकाश में तलत्व नीलत्व, मलिनता आदि का अध्यास लोक प्रसिद्ध है। आकाश शून्य है, उसे कोई प्रत्यक्ष कर नहीं सकता, शब्द-गुण द्वारा उसका अनुमान मात्र होता है किन्तु 'आकाश नीला है' 'आकाश उतर आया है,'—इत्याकारक भ्रम तो प्रायः सबको ही होता है। सुतरां आत्मा को यदि पूर्णतया

अविषय माना जाय तो आत्मा के बारे में भ्रम होने में कोई बाधा नहीं हैं। यदि आकाश का भी सम्मुखवर्तित्व स्वीकार किया जाय, तो आत्मा का भी वह स्वीकार किया जायगा। वस्तुतः आत्मा का सर्वव्यापित्व होने से सम्मुखवर्तित्व का भी व्यभिचार (बाधा) नहीं हो सकता। आत्मा स्वयंप्रकाश होने से वह सर्वत्र आरोप्य के अधिष्ठान (आश्रय) रूप से वर्तमान है। चैतन्य (ब्रह्म, आत्मा,) का भान (प्रकाश) न होने पर अहङ्कारादि जड़ पदार्थों का ज्ञान किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता, क्योंकि वे जड़ (अचेतन) हैं। अतएव आत्मा विषयी (विषय का आश्रय) होने पर भी अत्यन्त अविषय नहीं है। सुतरां स्वयम्प्रकाश आत्मा में अनात्मा और उसके धर्मों का अध्यास होने में कोई बाधा नहीं है—"एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः।"

निर्गुण (गुण रहित, धर्म रहित) ब्रह्म में किसी भी भाव से कोई भी धर्म सम्भव नहीं हो सकता—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या (अज्ञान) द्वारा आरोपित (कल्पित) धर्म ब्रह्म में हो सकते हैं। कहा भी गया है—"आनन्द विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते" अर्थात् ब्रह्म के आनन्द, विषयानुभव (विषय का ज्ञान) और नित्यत्व-ये सब धर्म हैं, ये सब धर्म चैतन्य से अपृथक् होने पर भी पृथक् (भिन्न) के सदृश भासित होते हैं। "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्"—(स्वीयगुण) (सत्व, रज, तम) द्वारा निगूढ़ (अन्तर्निहित्) देव की (ब्रह्म की) निजी शक्ति को जाने), "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" (माया को प्रकृति जाने), "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते"—(इन्द्र) (ईश्वर) माया (अविद्या, अज्ञान) द्वारा बहुरूप से प्रकट होता है), "अजामेकाम्"—(वह माया अज (अनादि) एक (अद्वितीय) है)—इत्यादि श्रुति सिद्ध एवं 'मैं अज्ञ हूं' इस प्रकार सबको सुस्पष्ट अनुभवसिद्ध' इस 'अविद्या (अज्ञान) का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तत्त्वज्ञ पण्डित इसी अध्यास को 'अविद्या' कहते हैं अर्थात् एक वस्तु को

अन्य वस्तु मान लेना ही अविद्या है। आरोपित पदार्थ से पृथक् रूप से अधिष्ठान स्वरूपनिर्णय 'विद्या' कही जाती है। विद्या अर्थात् ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने पर अविद्या नष्ट होती है और तब अविद्या-जात संसार भी विलय को प्राप्त होजाता है। यह अविद्या दो प्रकार की है—मूलाऽविद्या और तूलाऽविद्या। ब्रह्माश्रित अविद्या का नाम मूलाविद्या है और जीवाश्रित अविद्या का नाम तूलाविद्या। यह तूलाविद्या प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् रहने के कारण असंख्य है। अतएव जिसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, उसका ही अज्ञान दूर हो जाता है और वही मुक्ति लाभ करता है।

अध्यास के विषय में यह रहस्य जानने योग्य है—चन्द्र को दो मानने पर भी वस्तुतः चन्द्र दो नहीं हो जाता, रस्सी को सांप मानने पर भी वह सांप नहीं हो जाती, वह सदा रस्सी ही रहती है। जिस समय उसमें सांप का भ्रम होता है, उस समय भी वस्तुतः वह रस्सी ही रहती है, उस से पूर्व भी रस्सी थी और बाद में भी रस्सी ही रहेगी। अधिक क्या, साँप का दोष विषादि—रस्सी में प्रकाश नहीं पाता। उसी प्रकार सीप में चांदी का अध्यास होने पर चांदी का गुण सीप में नहीं आता। यदि आता तो चांदी के समान सीप से भी अलङ्कारादि तैयार होते। अतएव जिस पदार्थ का अध्यास होता है, उसका दोष वा गुण बिन्दु मात्र भी, जिसमें अध्यास होता है, उसमें स्पर्श नहीं करता। सुतरां आत्मा और अनात्मा के अध्यास में भी अनात्मा के दोष स्थूलत्व, जड़त्व प्रभृति आत्मा में नहीं जाते और आत्मा का स्वप्रकाशत्व गुण अनात्मा में नहीं जाता। संसार में सांसारिक धनोपार्जनादि या पारलौकिक व्रतादि जो कुछ भी कार्य किया जाता है, सबके मूल में यह अध्यास या अविद्या ही है। प्रत्यक्ष, अनुमान प्रभृति प्रमाण और विविध शास्त्र—सभी अध्यास-मूलक हैं। प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति का विभाग भी अध्यासमूलक ही है। आत्मा अकर्त्ता, अभोक्ता है, उसक प्रमातृत्व (प्रमाकर्त्तृत्व) की कल्पना अध्यास वश ही होती है।

प्रश्न---कोई एक यथार्थ साँप को सांप कहता है तो क्या यह भी अविद्या का ही प्रभाव है ? ध्यान, धारणा, पूजा प्रभृति करने के लिये जो शास्त्रादेश हैं, क्या वे भी अविद्या के फल हैं ?

उत्तर---लौकिक तथा शास्त्रीय सब व्यवहार का मूल कारण अविद्या (अध्यास) ही है। क्या कोई भी काम करते समय शरीर को ही 'अहं' नहीं माना जाता ? मानो, 'मैं लिख रहा हूँ' यह बात कहने के समय शरीर ही तो काम करता है, पर कहा जाता है 'मैं कर रहा हूँ' और यदि शरीर को मैं वा मेरा न माना जाय, तो कोई भी काम करना सम्भव नहीं हो सकता। जिस समय मनुष्य गम्भीर निद्रा में निमग्न रहता है, उस समय शरीरादि में मैं वा मेरा यह ज्ञान न रहने से कोई भी कार्य नहीं होता। चक्षु, कर्ण प्रभृति इन्द्रियों में यदि मैं वा मेरा यह बोध न रहे, तो उन इन्द्रियों से किसी भी ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ स्वयं स्वाधीन-भाव से कोई भी कार्य नहीं कर सकतीं, उन्हें एक आश्रय की आवश्यकता रहती है और वह आश्रय है 'मैं'। उसीं मैं का अवलम्बन करके इन्द्रियों के सब कार्य सम्पन्न होते हैं। इन्द्रिय के न रहने पर किसी विषय का ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव देह और इन्द्रियादि के ऊपर मैं वा मेरा इस बोध वा अभिमान न रहने पर किसी भी विषय का ज्ञान नहीं हो सकता। कोई भी कार्य किया जाय, सब के मूल में देह, इन्द्रिय प्रभृति को मैं वा मेरा मानना आवश्यक होता है। सुतरां शास्त्रीय वा सांसारिक सभी कार्य अध्यासमूलक हो रहे हैं। व्यवहार क्षेत्र में सामान्य पशु जिस प्रकार आचरण करता है, विवेकशील पुरुष भी उसी प्रकार आचरण करता है। जिसप्रकार भीतिसूचक शब्द सुनकर अथवा किसी के लाठी दिखलाने पर पशु वहाँ से भाग जाता है और यदि कोई प्यार से बुलाये तो आनन्द से उसके निकट चला आता है या कोई मुट्ठी भर घास लेकर अग्रसर हो तो उसकी ओर दौड़ जाता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी प्रमाण-प्रमेय-व्यापारकाल में पशु के तुल्य आचरण करता है। सभी कहते हैं कि पशुओं को विवेक नहीं होता। जब मनुष्य भी उस

के समान आचरण करता है, तब उस आचरणकाल में मनुष्य भी अविद्या या अज्ञान द्वारा ही चालित होता है। 'उस आचरणकाल में' कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरे क्षण में मनुष्य में विचार उदय हो सकता है, किन्तु जब तक मनुष्य कार्य करता है, तब तक उस कार्य की पद्धति में और पशु की कार्य पद्धति में किसी प्रकार का प्रभेद नहीं रहता। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने तक अध्यास अनिवार्य है और अध्यास रहने तक पशु के समान व्यवहार भी अनिवार्य ही है।

प्रश्न—प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणादि व्यवहार अध्यास मूलक हो सकता है अर्थात् प्रत्यक्षादि सांसारिक कार्य में मनुष्य और पशु एक ही रूप से कार्य करते हैं, यह स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु शास्त्रीय व्यवहार कैसे अध्यास मूलक होगा ? शास्त्र तो यथार्थ वस्तु स्वरूप का निर्णय करके प्रमाण होता है। तत्वनिर्णय ही विद्या है। सुतरां शास्त्र तत्वनिर्णयपूर्वक प्रमाणभूत होता है, वह अविद्यावान् पुरुष का विषय कैसे होगा ? विद्या और अविद्या का विरोध प्रकाश और अन्धकार के समान है। अतः अविद्यावान् पुरुष में विद्या कैसे रह सकती है ?

उत्तर–विधिशास्त्रमें कहा गया है कि 'स्वर्गकामः अग्निहोत्रं जुहुयात्' अर्थात् स्वर्गकाम व्यक्ति अग्निहोत्र होम करे। यह विधिशास्त्र भी अध्यास मूलक ही है, क्योंकि वर्ण, जाति प्रभृतिसे विहीन आत्मा में ब्राह्मणत्वादि जाति की कल्पना करके यजमान स्वर्गकामनापूर्वक अग्निहोत्र यात्रा में प्रवृत्त होता है। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'—ब्राह्मण-वध निषिद्ध है यह निषेधशास्त्र भी अध्यासमूलक ही है, क्योंकि हिंसापरायण व्यक्ति अकर्त्ता, असंग आत्मा में हनन-कर्त्तृत्व का आरोप करके किसी के विनाशार्थ प्रवृत्त होने पर निषेधवाक्य सुनकर हिंसा से निवृत्त होता है। मोक्षशास्त्र भी इसी प्रकार अध्यासमूलक ही है। मनुष्य अद्वैत, विशुद्ध, निर्गुण आत्मा में गुरु और शिष्यभाव की कल्पना करके पढ़ता और पढ़ाता है। अपने को प्रमाता कल्पना किये बिना शास्त्रीय विषयक उपदेश कदापि नहीं किया जा सकता। यह प्रमाता ही प्रमाज्ञान का कर्ता है। सुतरां अकर्त्ता

आत्मा में प्रमाज्ञान के कर्तृत्व का आरोप कहना ही पड़ता है। अधिक क्या, प्रमाता प्रमाण के बिना उपदेश ही नहीं कर सकता। वह प्रमाण ही प्रमा का करण है। प्रमाता, बिना व्यापार के प्रमाण को कार्य में व्यापृत कर नहीं सकता, किन्तु निर्विकार आत्मा में कोई व्यापार नहीं है। बुद्धि आदि अचेतन के साथ तादात्म्य-अध्यास के कारण बुद्धि आदि के व्यापार लेकर स्वयं आत्मा व्यापारवान् सा प्रतीत होता है। अतः शास्त्रीय व्यवहार भी अध्यासमूलक ही प्रतिपन्न हुआ।

प्रश्न—जो शास्त्र के वाक्य समझ सकता है और आत्मा परलोक में भी रहेगा—ऐसा ज्ञान जिसको है, वह मनुष्य ही शास्त्र के आदेशानुसार कार्य कर सकता है, क्योंकि शास्त्रोक्त कार्य का फल प्रायः परलोक में ही मिलता है। परन्तु इस प्रकार शास्त्र समझने की शक्ति और परलोक सम्बन्धी ज्ञान, पशु में नहीं रहते। अतः शास्त्रीय व्यवहार में भी मनुष्य पशु के समान होता है, यह सिद्धांत कैसे माना जायगा?

उत्तर—सच है जो व्यक्ति कोई शास्त्रीय यज्ञादि करना चाहता है, वह यदि साधारण मनुष्य के समान ज्ञानी होता है और परलोक में वह रहेगा, इतना ही जानता है तो वह उस यज्ञादि को कर सकता है, यथार्थ आत्मतत्त्वज्ञान की उसे कुछ आवश्कता नहीं रहती अर्थात् परलोक में मैं रहूंगा, किन्तु किस प्रकार से रहूंगा, मेरी आत्माका यथार्थ स्वरूप क्या है—यह सब तत्त्व जानने का उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। उपनिषद् में आत्मा को अकर्त्ता, अभोक्ता कहा गया है, वही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है और ऐसा आत्मज्ञान ही तत्त्वज्ञान वा यथार्थज्ञान है। किन्तु कर्मकाण्ड में ऐसा ज्ञान विरोधी है क्योंकि जो व्यक्ति आत्मा को अकर्त्ता, अभोक्ता जानेगा, वह यज्ञ कैसे करेगा और करने पर भी फलभोक्ता कैसे बनेगा? सुतरां शास्त्रीय कर्म भी अध्यास-मूलक हैं, यह निःसन्देह है। कर्मकाण्ड केवल देहभिन्न आत्मा के अस्तित्व और उसके नित्यत्व का प्रतिपादन करता है। इसके अतिरिक्त पापक्षय या पुण्यार्जन के लिए ही मनुष्य प्रायश्चित्त, यज्ञयाग, व्रत, पूजा इत्यादि का अनुष्ठान करता

है, अर्थात् सुखलाभ वा दुःख-परिहार ही शास्त्रीय कार्य का उद्देश्य है और यज्ञयागादि भिन्न-भिन्न वर्णवालों के विभिन्न हैं। जो व्यक्ति अपने ब्राह्मणादि विशेष वर्ण को नहीं मानता वह शास्त्रीय यज्ञयागादि करने का अधिकारी ही नहीं हो सकता। अतः जो अपने को सुखी, दुःखी, ब्राह्मणादि वर्णवाला संसारी मनुष्य मानता है, वही यज्ञादि करता है। किन्तु यथार्थतः आत्मा ऐसा नहीं है। वेदान्तशास्त्र आत्मा को क्षुधा-तृष्णा-रहित, ब्राह्मण-क्षत्रियादि जाति भेद शून्य, असंसारी बतलाता है। अतएव जब तक कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व-विरहित शुद्ध आत्मज्ञान का उदय नहीं होता, तब तक शास्त्रीय वा सांसारिक कार्य अध्यासमूलक होता रहता है। 'ब्राह्मणो यजेत' इस स्थल में आत्मा में वर्ण का अध्यास किया गया है। 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत'—यहां आत्मा में वय का अध्यास किया जाता है। सुतरां आत्मा में वर्ण, आश्रम, वय प्रभृति का आरोप करके ही मनुष्य कर्मकाण्ड में प्रवृत्त होता है। इसलिए शास्त्र भी अध्यास पर प्रतिष्ठित है।

साधारणतया देखा जाता है कि अपनी सन्तान को प्रसन्नता से खेलते देखकर पिता का भी चित्त बहुत प्रसन्न होता है। यहाँ पुत्र का आनन्द पिता अपने में अध्यस्त करके अपने को आनन्दित मानता है। फिर जिस समय ज्वर से पुत्र विस्तर पर छटपटाता है, उस समय पिता भी अपने में बीमारी का अनुभव करता है। यहां भी पुत्र का कष्ट अपने में आरोपित करके पिता अपने को दुःखी मानता है। इन दोनों स्थलों में बाहर का धर्म आत्मा में अध्यस्त किया जाता है। इसी प्रकार मैं स्थूल हूं, कृश हूं, गौर हूं, खड़ा हूं, चल रहा हूं—इत्यादि देह धर्मों को मैं मूक हूं, काना हूं, बधिर हूं, अन्ध हूं,—इत्यादि इन्द्रियधर्मों को, मेरी यह करने की इच्छा हो रही है, मैंने ऐसा संकल्प किया है—इत्यादि अन्तःकरण-धर्मों को आत्मा में अध्यस्त किया जाता है। इस प्रकार अहम्प्रत्ययी अन्तःकरण को अन्तःकरण वृत्तिसमूह के साक्षिस्वरूप प्रत्यगात्मा में आरोपित करके और उसके विपरीत सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा

को भी अन्तःकरणादि में अध्यस्त किया जाता है। मनुष्य जो कुछ करता है वा जो कुछ भोगता है, सबके मूल में अध्यास, अविद्या, मिथ्याज्ञान वा भ्रम रहता है। अध्यास जीव में एकान्त स्वाभाविक है, जन्म से ही उस अध्यास का खिलौना बनकर जीवन चलाना जीव का स्वभाव हो गया है। यह अध्यास कब आरम्भ हुआ यह कौन कह सकता है, परन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से इसकी निवृत्ति होती है यह वेदान्तशास्त्र एवं अनुभव से सिद्ध है। अध्यास अनादि अविद्या-स्वरूप होने से इसके कार्य भी अनादि ही हैं। तत्वज्ञान के बिना इसका ध्वंस न होने से यह अनन्त है। अध्यास से संस्कार और संस्कार से अध्यास इस प्रकार प्रवाह रूप से अध्यास नैसर्गिक-स्वाभाविक है। भाष्य में 'अनादिः' और 'नैसर्गिकः' पद से अध्यास के उपादान और निमित्तकारण बतलाये गये हैं। "मिथ्या प्रत्ययः' पद से अध्यास का स्वरूप बतलाया गया है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व अध्यास का कार्य वा फल है, अतएव कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि अनर्थों का आत्यन्तिकनाश 'मोक्ष' है।

यह अध्यास (अज्ञान, अविद्या) विद्या (ज्ञान) का अभाव नहीं है क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अन्यथा जगत् अभावरूप हो जाता। कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। अतएव अविद्या (अध्यास) को विद्या (ज्ञान) की विरोधिनी जानना चाहिये। वस्तुतः प्रकाश-रूप सूर्यमण्डल में उल्लू को अनुभव सिद्ध अन्धकार के समान अध्यास (अविद्या) अनिवर्चनीय है, अर्थात् वह 'सत्' है या 'असत्' इसका निर्वचन (निरूपण) नहीं किया जा सकता, अतः वह मिथ्या है। "एकमेवाद्वितीयम्" ब्रह्म एक अद्वितीय है। जिस प्रकार वटवृक्ष का अपने पत्र, पुष्प, फलादि के साथ स्वगत भेद रहता है अन्य वृक्ष के साथ सजातीय भेद रहता है, एवम् वृक्षातिरिक्त वस्तुओं के साथ विजातीय भेद रहता है, उस प्रकार ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है। 'एक' शब्द के द्वारा सजातीय भेद, 'एव' शब्द से स्वगत भेद और 'अद्वितीय' शब्द से विजातीय भेद-रहित ब्रह्म जानना चाहिये।

वस्तुतःजीव में स्वगत भेद, घटसत्ता, पटसत्ता इत्यादि में सजातीय भेद और नामरूपात्मक जगत् में विजातीय भेद हैं --ब्रह्म इन त्रिविध भेदों से रहित है। "नेह नानास्ति किंचन" (इस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं हैं) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (इस ब्रह्म में जो नाना के सदृश द्वैत के समान) देखेगा (वस्तुतः तो द्वैत है ही नहीं) वह द्वैत दृष्टा मृत्यु के बाद मृत्यु से कवलित होगा), "यत्रहि द्वैतमिव भवति" (जिस समय द्वैत के सदृश होता है), "यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत" (जिस समय ज्ञानी पुरुष का सब कुछ आत्मा ही हो जाता है), "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" (यह सब ही ब्रह्म है), "आत्मैवेदं सर्वम्" (यह सब आत्मा ही है), "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुतियों के याथार्थ्य की आलोचना से भी सुस्पष्ट ही जगत् की मिथ्यात्व प्रतीति होती है । अतएव जगत् सत्य नहीं, मिथ्या है—यही निश्चित हुआ। प्रपञ्च (जगत्) के मिथ्यात्व विषयमें 'चित्सुखी'में कहागया है-"तथैकमेवाद्वितीयमित्याद्यागमोऽपि तत्र प्रमाणः" अर्थात् "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुति भी इसमें प्रमाण है। अतएव ब्रह्म में जगत् का अध्यास सिद्ध है। अध्यास की सिद्धि से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध हुआ। जिस प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्नकालीन दृष्टवस्तु मिथ्या ज्ञात होती है, उसी प्रकार आत्म-ज्ञानोदय होने पर मायादृष्ट जगत् मिथ्या होता है। जगत् का मिथ्यात्व 'अद्वैतसिद्धि' में विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हुआ है। स्वप्न में भी आवि-द्यक (अविद्याजन्य) ही अनुभव होता है, वास्तविक सत्य का अनुभव नहीं होता। मायावी (ऐन्द्रजालिक) भी व्यावहारिक सत्य विषयों को ही इन्द्रजालविद्या चातुर्य से अन्य प्रकार का दिखलाता है। ईश्वर भी मायासहकृत होकर इस जगत् को मायामय (मायापरिणाम) दिखलाता है, वस्तुतः सत्य वस्तु ईश्वरातिरिक्त कुछ भी नहीं है। संसार दशा में सुख-दुःखादि के अनुभव काल, अज्ञान-अवस्था में ये सभी सत्य हैं। अद्वैत ब्रह्मतत्त्वज्ञान (ब्रह्मसाक्षात्कार) के साथ ही प्रपंच का

मिथ्यात्वज्ञान होता है, उसके पहले नहीं। अधिष्ठान (आश्रय) के तत्व (स्वरूप) साक्षात्कार का (प्रत्यक्ष) ही आरोप्य (जगत्) के मिथ्यात्वज्ञान का हेतु है।

यह अद्वैतज्ञान तर्क के द्वारा बाधनीय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसका प्रयोजन विद्यमान है। 'खण्डनखण्डखाद्य' में कहा गया है कि "सेयमद्वैत बुद्धिर्न तर्कमवतार्य प्राज्ञैरपनेया यदाह श्रुतिः" "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इति। तस्मात् "धीधना बाधना या स्यात् तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ। क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ" अर्थात् अद्वैत बुद्धि (अद्वैत ज्ञान) का प्राज्ञ (बुद्धिमान्) अवतारणा करके परित्याग न करे। श्रुति का कहना है कि यह अद्वैतमति (अद्वैतज्ञान) तर्क के द्वारा परित्याज्य (परित्याग का विषय) नहीं है, इसलिये जिस समय अपने हस्त में प्राप्त चिन्तामणि को समुद्र में फेंकने की इच्छा हो, उसी समय अद्वैत बुद्धि के बाध के लिये पण्डितों को स्वीयबुद्धि का प्रदान (अर्पण, प्रेरण) करना चाहिये, अर्थात् ऐसा दौर्भाग्य होने पर ही अद्वैत बुद्धि का परित्याग कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। अद्वैतबुद्धि का फल ब्रह्मसाक्षात्कार है, वह तो हाथोंहाथ प्राप्त होता है, अतः वह परित्याग योग्य नहीं है। अविद्या-निवृत्ति द्वारा साक्षात् (प्रत्यक्ष) हाथ की हथेली पर स्थित आमलक-फल के समान सुस्पष्टरूप से उदयास्त (उत्पत्ति-विनाश)-रहित, निरतिशय (तारतम्य-विहीन) आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि (साक्षात्कार), जो ज्ञानी पुरुष के लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है, अद्वैतज्ञान का फल है। यही महान् प्रयोजन अद्वैत का है, अतः वह परित्याज्य नहीं है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" (ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियों एवं ज्ञानी पुरुष के "अहं ब्रह्मास्मि" इस अनुभव की प्रसिद्धि के कारण भी अद्वैतज्ञान अत्यन्त आदरणीय ही है। अद्वैत ब्रह्म-जिज्ञासा में अध्यास की पूर्ण उपयोगिता है, अतः सूत्रार्थ के साथ इसका सम्बन्ध है इसलिये यह अध्यास-व्याख्या भी ग्रन्थ का अङ्ग सिद्ध हुई।

प्रश्न---वेदान्त में जबकि प्रणव-उपासना का वर्णन मिलता है, तब जीव ब्रह्म का ऐक्य किस प्रकार इसका विषय होगा ?

उत्तर--उपासना चित्त की एकाग्रता उत्पादन करके जीव और ब्रह्म के ऐक्य में सहायता करती है। उपासना बोधक वाक्यों का उपासना में अवान्तर तात्पर्य है। शरीर शब्द के आगे कुत्सितार्थ में 'क' प्रत्यय द्वारा 'शरीरक' पद सिद्ध हुआ है, उसमें जो वास करता है, वही शारीरक अर्थात् जीव है, उस जीव का ब्रह्मत्व विचार ही मीमांसा है और विचार का साक्षात् विषय वेदान्त है।

प्रश्न---भाष्य का लक्षण है---'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः, स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।" अर्थात् जिसमें सूत्रानुसारी पदों से सूत्र का अर्थ कहा जाता है और भाष्यकार अपने प्रयुक्त पदों की व्याख्या जिसमें स्वयं करता है, भाष्यविद् लोग उसे 'भाष्य कहते हैं। परन्तु यह अध्यास ग्रन्थ इस प्रकार भाष्यलक्षणाक्रान्त नहीं है, अतएव इसे भाष्य कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर---अर्थ दो प्रकार का होता है---पद का यथाश्रुत अर्थ और तात्पर्यगत अर्थ। इस आभास भाष्य में सूत्र के प्रत्येक पद की व्याख्या न रहने पर भी इसमें सूत्र का तात्पर्यार्थ रहने से यह भाष्यलक्षणाक्रान्त है।

प्रश्न---ग्रन्थारम्भ में विघ्नविनाश के लिये मङ्गलाचरण शिष्टाचारसम्मत है। इस भाष्य में भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य ने मङ्गलाचरण नहीं किया है, इसलिये यह भाष्य सज्जनों को ग्रहणीय कैसे हो सकता है ?

उत्तर---मङ्गलाचरण तीन प्रकार का है,---कायिक, वाचिक और मानसिक। 'युष्मदस्मत् प्रत्यय गोचरयोः' से 'सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः' पर्यन्त भाष्य में 'तत्'-पद-प्रतिपाद्य सर्वदोषविवर्जित, विज्ञानघन ब्रह्मतत्त्व का स्मरण होने के कारण वहां मानसिक मङ्गलाचरण किया गया है।

भगवान् वेदव्यास-रचित 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम सूत्र में जो अध्यास अव्यक्तभाव से विद्यमान है, उस रहस्य को भगवान् भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य के अतिरिक्त और कोई नहीं समझ सका है। इसलिये वे इस अध्यास-भाष्य की व्यर्थता सिद्ध करने के लिये नाना प्रकार की युक्तियों का प्रयोग करते हैं। एक विज्ञान द्वारा सर्वविज्ञान ही समस्त श्रुति का तात्पर्यार्थ है। निखिल वस्तु ब्रह्मजन्य होने पर ही कारण-भूत ब्रह्मविज्ञान से कार्य समूह का विज्ञान हो सकता है। यदि वह कार्य-जात अध्यस्त अर्थात् मिथ्या हो, तभी नित्य ब्रह्मविषय में जिज्ञासा हो सकती है। सुतरां यह अध्यासश्रुति और व्याससूत्र सम्मत है और अध्यासभाष्य सार्थक है।

५

परमार्थ सत्य

अद्वैत आत्मा का यथार्थ अनुभव ही सम्यग् दर्शन है। जहाँ इस दर्शन का अभाव है, वहीं मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, खण्डितज्ञान, अपूर्णज्ञान, अज्ञान या अविद्या है। अद्वैत ही परमार्थ है, एकमात्र सत्य है। द्वैत तो अद्वैत में भेद दिखानेवाला है। नानात्वरूपों से दृष्ट-द्वैतरूप से भासित—सब कुछ अद्वैत की ही नानारूपों से प्रतीति है, एकमात्र अद्वय ज्ञानस्वरूप चैतन्य ही है। यह परमात्मा एक है—द्वितीय कुछ नहीं है। एक ही परमात्मा नाना भावों से दिखलायी पड़ने का कारण है दर्शन-दोष। दृश्य-प्रपञ्च वास्तविक न होता हुआ भी अविद्या-कौशल से वह एक ही नाना रूप रूपान्तरों से दृष्ट होता है। अतः द्वैताभाव-नानाभाव (रूप) सब ही मिथ्या है। मिथ्यावस्तु यथार्थ में नहीं है। जैसे स्वप्न में कितनी ही वस्तु देखने में आती है, किन्तु जब तक स्वप्न रहता है, तभी तक वे सत्यवत् ज्ञात होती हैं, स्वप्न भङ्ग होने पर ज्ञात होता है कि स्वप्न मिथ्या कल्पनामात्र है, वैसे ही जब तक अविद्या या माया जीव में रहती है, तभी तक अविद्या स्वप्नकालीन कल्पना की तरह नाना वस्तुओं को दिखलाती है। 'माया' अर्थात् जो नहीं है, उस माया स्वप्न भङ्ग के बाद दिखलायी पड़ता है कि एकमात्र सच्चिदानन्द ही विराजमान है, तदितर कुछ है नहीं।

ब्रह्म को सर्वशक्तिमान् कहा जाता है। इसलिये अज्ञलोग कहते हैं कि ब्रह्म जैसे सत्य है, शक्ति भी वैसे ही सत्य है। इस दृष्टि से साधा-

रण मनुष्य द्वैत को सत्य मानते हैं। किन्तु ब्रह्म में शक्ति कैसे रहती है? क्योंकि ब्रह्म सर्वदा चलन-रहित है--'अनेजत्' और शक्ति सदा चलन-सहित है। चलन-रहित में चलन-सहित कैसे रह सकता है ? इसलिये जब शक्ति ब्रह्म में रहती है, ऐसा कहा जाता है, तब शक्ति और शक्तिमान् एक (अभेद रूप से) रहते हैं। इस तरह एक होकर रहनेके समय 'शक्ति है' ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि चलन-रहित में चलन-सहित का रहना असम्भव होता है। फिर शक्ति का निषेध भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि शक्ति न रही, तो चलन कैसे रहेगा, अतः शक्ति को 'है' भी नहीं कहा जा सकता और 'नहीं' भी निश्चय नहीं किया जा सकता। इसीलिये शक्ति को 'माया' कहते हैं। अन्य रीति से विचार किया जाय, तो ब्रह्म में (चैतन्य में) चैतन्येतर कुछ भी नहीं है, परन्तु जो सर्वशक्तिमान् है, वह कल्पना कर सकता है, और नहीं भी कर सकता। जब कल्पना नहीं भासती, तब वह अपने स्वरूप में आपही आप रहता है और कल्पना भासने पर वह 'स्वे महिम्नि स्थितः' होता है। इसलिये चित् स्पन्द तथा अस्पन्द-स्वभाव-विशिष्ट कहा जाता है। अस्पन्द-स्वभाव में वह आप ही आप और स्पन्द-स्वभाव में वही विचित्र सङ्कल्प से अनन्त सा भासती है। स्वभाव का कुछ भी कारण नहीं है। इसलिये कहा जाता है, कि द्वैत (नाना) अद्वैत का ही भेद या कार्य है। जैसे आकाश सर्वदा आकाश ही है किन्तु अखण्ड आकाश में मेघोदय होने पर वायु द्वारा अनेक खण्डों में विभक्त होने से उन खण्ड-खण्ड मेघों में जैसे खण्ड-खण्ड आकाश भासता है, परन्तु असल में आकाश अखण्ड ही है, वह कभी खण्डित नहीं होता, केवल मायामेघ के कारण खण्ड-सा प्रतीत होता है। वैसे ही "एकमेवाद्वितीयम्" ब्रह्म एक ही—अद्वितीय ही—है। "नेह नानास्ति किञ्चन" ब्रह्म में भेदभाव का लेशमात्र भी नहीं है, "नतु तद्द्वितीयमस्ति" एकमात्र ब्रह्म ही है, तदितर द्वितीय कुछ भी नहीं है, "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" परमात्मा मायाश्रय से बहुरूप को प्राप्त होता है।

असम्प्रज्ञात समाधि में अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध से जो समाधि होती है, उसमें अथवा सुषुप्ति में किंवा मूर्च्छावस्था में द्वैत कहाँ रहता है? तब द्वैत रहता नहीं, क्योंकि उसी अवस्था में चित्तस्पन्दन का अभाव होता है। चित्तस्पन्दन के अभाव से ही द्वैत का अदर्शन होता है। जिस स्थिति में चित्तस्पन्दन (कल्पना) नहीं रहता, वही अद्वैत है और चित्तस्पन्दन ही जगत् रूप से भासने के कारण कल्पना-साक्षी अद्वैत आत्मा ही नानारूपों से प्रतिभात होता है। इस विचार से नानात्व चित्त की स्फुरणरूप कल्पना (सङ्कल्प) मात्र है। परन्तु आश्रय के बिना कल्पना का स्फुरण नहीं होता। एक अद्वैत आत्म सत्ता को आश्रय करके चित्त स्फुरण नानात्व (द्वैत) का प्रसव करती है, इसलिये द्वैत को अद्वैत का कार्य कहा गया है।

भ्रान्त दृष्टि से जो कुछ देखा जाता है, वह सब सत्य ही प्रतीत होता है। इसलिये द्वैतियों की दृष्टि में जगत् भी सत्य और ईश्वर भी सत्य है, परन्तु अभ्रान्त दृष्टि से एकमात्र अद्वितीय ही सत्य है और वह अद्वितीय ही भ्रमज्ञान से अनन्त-सा भासमान होता है। इसलिये कहा गया है कि द्वैतियों की भ्रान्त दृष्टि से, व्यवहार और परमार्थ इस तरह दो प्रकार के द्वैत हैं। द्वैत का मूल है भ्रान्ति और अद्वैत का मूल है प्रमाण। अतः अभ्रान्त-दृष्टि अद्वैतवादी द्वैतवादी से विरोध कैसे करेगा! जैसे कोई उन्मत्त पुरुष पृथिवी पर रहकर ही किसी मत्त गजारूढ़ पुरुष से कहे कि मैं 'गजारूढ़ हूँ मेरे ऊपर तू हाथी चला' परन्तु इतना कहने पर भी वह गजारूढ़ मनुष्य उस उन्मत्त व्यक्ति पर विरोध बुद्धि से हाथी नहीं चलाता, क्योंकि वह जानता है कि वह उन्मत्त भ्रान्त दृष्टि है और मेरा शत्रु नहीं है, यहां भी वैसे ही है। वस्तुतः परमार्थभाव से समझा जाता है कि अद्वय ब्रह्म चैतन्य द्वैतवादियों का भी आत्मा है। इसलिये अद्वैती, द्वैतियों के साथ विवाद नहीं करते, क्योंकि अपने आत्मा के साथ किसी का भी विरोध सम्भव नहीं है।

यथार्थ सत्य अद्वैत ही तिमिरदोष दृष्टि वाले पुरुष से कल्पित बहु चन्द्र की तरह अथवा सर्प एवं जलधारा रूपों से दृष्ट रज्जु की तरह द्वैतरूप से भासमान होता है। जो कुछ भेद या नानात्त्व कहा जाता है, वह माया रचित है, वास्तव में नहीं है। आत्मतत्व स्वरूपतः भेद रहित है, क्योंकि आत्मा निरवयव निराकार है। अवयव विशिष्ट वस्तु ही अवयव का अन्यथाभाव होने पर भेद भाव को प्राप्त होती है—नानात्व को प्राप्त होती है, जैसे अवयव विशिष्ट मृत्तिका घट शरावादि नाना रूपों में परिणत होती है। इसी लिये कहा जाता है कि निरवयव आत्मा किसी भी भाव से नानात्व को प्राप्त नहीं होता। यदि स्वभावतः अमरणशील आत्मा वास्तव में भेद को प्राप्त होता, तो वह मरणशील हो जाता। अग्नि का स्वभाव उष्णता है। अग्नि अपनी स्वाभाविक उष्णता त्याग कर शीतल हुआ है, ऐसा कहना जैसे सर्वप्रमाणविरुद्ध है क्योंकि स्वभाव का कदापि अभाव नहीं होता, वैसे ही निरवय निराकार, अज, एक, अद्वैत–स्वभावविशिष्ट आत्मतत्व सावयव, साकार, जनन-मरणशील नानाप्रकार–स्वभाववान् द्वैतत्व को प्राप्त हुआ यह कहना भी सर्व प्रकार के प्रमाण, युक्ति तथा अनुभव के विरुद्ध हैं। इसीलियें कहा जाता है कि अविनाशी आत्मतत्व आत्ममाया द्वारा ही भेद भाव सा प्रतीत होता है–नानात्व प्राप्त हुआ सा ज्ञात होता है–परमार्थतः नहीं। "मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन।" इसलिये द्वैत किसी प्रकार से भी यथार्थ सत्य नहीं है–"तस्मात् न परमार्थं सद् द्वैतम्" जैसे अमर कदापि मरता नहीं, वैसे मरणशील भी कदापि अमर नहीं होता। प्रकृति का अन्यथा भाव, स्वभाव का विपर्यय, किसी प्रकार से हो नहीं सकता। जन्म रहित आत्मा का जन्म होना, उत्पत्ति होना, किसी भी रीति से सम्भव नहीं हो सकता। जिस के मत में स्वभावतः अमरत्व रूप भाव भी मरणत्व को प्राप्त होता है, उसके सिद्धान्त में कुछ भी चिरस्थायी नहीं रह सकता। आत्मा का भी जन्म होता है, उत्पत्ति होती है, ऐसा जिसका मत है उसके मत में जननशील नहीं, ऐसी

वस्तु ही नहीं है, अतः सभी वस्तु जननशील होने से मरणशील भी हुई और मरणशील होने के कारण 'मोक्ष' नाम की भी कोई वस्तु नहीं सिद्ध हो सकती।

एक श्रुति कहती है--प्राणादि अपने से श्रेष्ठ को निश्चय करने में असमर्थ होने के कारण प्रजापति ब्रह्माजी के पास गये। प्रजापति ने कहा--"तुममें से जो देह से निकल जाने पर शरीर अमंगल हो जायगा, वही श्रेष्ठ है।" अन्य श्रुति में वाक्, चक्षु, श्रोत्र तथा मन इन चार को मुख्य प्राण से भिन्न कहा गया है और एक श्रुति में त्वक् प्रभृति प्राण रूप से कहे गये हैं। इस प्रकार प्राणादि संवाद विभिन्न भाव से वर्णित होने के कारण निश्चय किया जा सकता है कि श्रुति परमार्थ सत्यभाव से इन आख्यायिकाओं का वर्णन नहीं करती, अन्यथा एक रूप से ही कहती। वैसे ही जगत के सृष्टि-सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह भी विभिन्न श्रुतियों में विभिन्न है। 'तैत्तिरीय' में कहा गया है कि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" अर्थात् आत्मा से पहले आकाश उत्पन्न हुआ। 'छान्दोग्य' में कहा गया है "तत्तेजोऽसृजत" तेज की ही प्रथम सृष्टि है। 'प्रश्नोपनिषद्' कहती है--"आत्मन एष प्राणो जायते" आत्मा से पहले प्राण सृष्ट हुआ। कहीं कहीं सृष्टि का कुछ क्रम भी नहीं दिखलाया गया है। इस तरह सृष्टि पादक श्रुतिवाक्य विभिन्न होने से निश्चय किया जा सकता है कि वास्तव में सृष्टि कुछ भी नहीं हुई, अज्ञान विलास से ब्रह्म ही नानाभावों से दृष्ट होता है। यदि सृष्टि यथार्थ होती तो सारी श्रुतियों में एक ही क्रम रहता। इसलिये कहा जाता है कि सृष्टि प्रतिपादक श्रुति-वाक्य-समूह का विरुद्ध क्रम देखने से प्रतीत होता है कि सृष्टि प्रतिपादन करना ही श्रुति का उद्देश्य नहीं, परन्तु एक अद्वैत आत्मतत्त्व को दिखलाना ही श्रुति-तात्पर्य है। यह बात सत्य है कि भिन्न-भिन्न भावों से सृष्टि वर्णन किया गया है, परन्तु सर्वत्र ही कहा गया है कि सृष्टि का कारण एक ही अधिष्ठान चैतन्य आत्मा या ब्रह्म है,

अतः प्रमाणित होता है कि विभिन्न भावों से सृष्टि-वर्णन करके श्रुति एक मात्र अद्वैत आत्मतत्व को ही प्रकाश करती है। 'आत्मा एक अद्वैत है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न करना ही अनेक प्रकार से सृष्टिवर्णन का एक मात्र उद्देश्य है अर्थात् बुद्धि में अद्वैत बोधोत्पत्ति के लिये श्रुति ने सृष्टि वर्णन किया है। यह निश्चय है कि सिवा मिथ्या के और किसी के द्वारा सृष्टि हुई है यह कहा नहीं जा सकता। किसी भी युक्ति से यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि माया के अतिरिक्त और किसी से सृष्टि हो सकती है। अधिक क्या? भला किस प्रयोजन के लिये ब्रह्म सृष्टि रचेंगे? जिसको कुछ भी प्रयोजन नहीं है, जो सर्वदा पूर्ण है, जो आप्तकाम है, वह किस कामना की सिद्धि के लिये सृष्टि करेंगे? विशेषतः "स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" वह बाह्य तथा अन्तर सहित है एवं अज है। स्वप्नागत रथादि एवं जाग्रतगत घटादि रूप सृष्टि अविद्याकृत है, परमार्थतः सृष्टि नहीं हुई। सृष्टि सम्बन्धी सारी उक्तियां केवल अद्वैत सिद्धि के लिये ही हैं। युक्ति से भी वही प्रमाणित होता है। श्रुति युक्ति युक्त ही कहती है। अयुक्त बात श्रुति नहीं कहती। परमेश्वर से हो चाहे माया से हो, सृष्टि यदि परमार्थतः सत्य होती तो नानात्व का अभाव प्रदर्शन श्रुति क्यों करती? जैसे श्रुति में प्राण तथा इन्द्रिय-संवाद रूप आख्यायिका प्राण की ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता दिखलाने के लिये कल्पना मात्र है। वैसे ही एक अद्वैत आत्मतत्व का निश्चय करने के लिये ही श्रुति ने कल्पित सृष्टि को मिथ्या कहा है। माया द्वारा सृष्टि बतला कर श्रुति ने असत्य बोधक 'माया' शब्द का प्रयोग किया है। यदि कहा जाय कि माया शब्द भी प्रज्ञावाचक अर्थात् ज्ञान बोधक है, मिथ्या अर्थयुक्त नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि माया शब्द का वाच्य प्रज्ञा का अर्थ चैतन्य ब्रह्म नहीं है, क्योंकि "भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः" अर्थात् पुनः अन्त में विश्व अर्थात् कार्य एवं माया अर्थात् कारण, इन दोनों की निवृत्ति हो जाती है, इस श्रुति वाक्य से माया की निवृत्ति

होना जाना जा रहा है। अतः कहीं माया का जो प्रज्ञाअर्थ है वह इन्द्रियोद्भूत ज्ञान है। इन्द्रियजन्य ज्ञान मात्र ही अविद्यामय है अविद्या रूप होने से वह मिथ्या है। इसीलिये 'माया' को 'मिथ्या' कहा जाता है। फिर भी इन्द्रियजन्य प्रज्ञा के अविद्यात्मक होने पर भी माया तथा मिथ्या को अङ्गीकार करने में कुछ दोष नहीं है अर्थात् अविद्या से आकाशादि भूत, भूत से इन्द्रिय, इन्द्रिय से प्रज्ञा होने पर भी अविद्या का अन्वय होने से अविद्यात्मक प्रज्ञा को माया रूप स्वीकार करने में कुछ दोष नहीं है। इसलिये इन्द्र (परमात्मा) अविद्यारूप इन्द्रियजन्य बुद्धिबृत्तिमय माया द्वारा वहुरूप होते हैं, यह प्रतीत होता है। श्रुति और भी कहती है "अजायमानो वहुधा विजायते" अर्थात् जन्म रहित होकर भी ब्रह्म वहुरूपों से जन्म लेता है, इससे भी माया का मिथ्यात्व प्रमाणित होता है, एक ही वस्तु में जन्म हीनता एवं बहुप्रकार जन्म परिग्रह–कदापि सम्भव नहीं होसकता, जैसे अग्नि में शीतलता तथा उष्णता, ये दो विरुद्ध धर्मों का होना असम्भव होता है। इसलिये अज परमात्मा का जो वहुजन्म कहा जाता है, वह माया द्वारा ही हो सकता है, अर्थात् वह मिथ्या है। अतएव सिद्धान्त यह है कि एक आत्मा ही है, सृष्टि नहीं है अर्थात् माया इन्द्रजाल द्वारा एक आत्मा को ही विचित्र सृष्टि रूप से भासित कर रही है। "तत्र को-मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" उस अवस्था में ऐसे एकत्व को देखने वाले को कहाँ मोह और कहां शोक? "मृत्योः स मृत्यु-माप्नोति य इह ना नेव पश्यति" अर्थात् जो इस आत्मा को बहुरूप से देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। इन वेद मन्त्रों से भी जाना जाता है कि श्रुति विचित्र सृष्टि के भेद दृष्टि की निन्दा करके एक अद्वैत ज्ञान का ही निश्चय कर रही है।

आत्मा अति दुर्ज्ञेय है। जगत् में जितनी वस्तुएं हैं, वे कोई आत्मा नहीं हैं। यह आत्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है, इस तरह समस्त वस्तुओं को अग्राह्य करने पर सम्पूर्ण दृश्य ज्ञान का मार्जन कर, अन्त में

जो अवशिष्ट रहता है वह आत्मा है। "नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चिद्" आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं है और वह कुछ भी नहीं है। वह तो सर्वदा ही स्वस्वरूप से प्रकाशमान है। एकमात्र अज्ञान ही इस आत्म वस्तु को अनेक रूपों से दिखला रहा है। अज्ञान हटा देने पर ही आत्मा सदा प्रकाशस्वरूप रह जाता है। आत्म-प्रतिपादन के लिए श्रुति ने अनेक उपायों का अवलम्बन किया है, किन्तु उस उपाय-समूह को भी जो सत्यरूप से स्वीकार करता है, वह भ्रान्त है। आत्मा सत्य है, परन्तु आत्मा को दिखलाने के लिए जिस उपाय का श्रुति ने अवलम्बन किया है, वह मिथ्या है। बुद्धि का विषय सभी कुछ मिथ्या माया है। सत्य को समझाने के लिए ही मिथ्यावलम्बन है। जैसे 'अरुन्धती न्याय' से सत्य को दिखलाने के लिए पहले मिथ्या का अवलम्बन करना पड़ता है और बाद में सत्य-दर्शन-सामर्थ्य होने पर मिथ्या को मिथ्या कहकर त्यागने का उपदेश किया जाता है, वैसे यहाँ भी समस्त वस्तुओं को मिथ्यारूप से अग्राह्य करने पर ही आत्मा प्रकाशित होता है।

असंख्य श्रुति प्रमाणों से निश्चित होता है कि भीतर-बाहर एकमात्र आत्मा ही विराजमान् है तथा आत्मा का जन्म नहीं है। आत्मतत्व अद्वय है, आत्मातिरिक्त द्वितीय कुछ भी नहीं है। युक्तियों से भी वैसा ही निश्चय किया गया है। यदि कहा जाय कि आत्मतत्त्व तो सदा ही अग्राह्य है—ग्रहण के अयोग्य है क्योंकि 'नेति-नेति' रूप से दृश्य, दर्शन का मार्जन किये बिना आत्मानुभव नहीं होता, अतः आत्मा ज्ञान का विषय नहीं है, इसलिये आत्मा असत् ही है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सदात्मा का आश्रय करके ही असत् जगत् भासित हुआ करता है। जैसे विद्यमान मायावी का माया द्वारा जन्म होता है, वैसे ही इस जगत् का जन्मरूप कार्य मायाश्रय आत्मा को ही दिखलाता है। यह जगत् कार्य है, इसका कारण अधिष्ठान चैतन्य है। चैतन्य सत्यस्वरूप है। मायावी है सत्य मनुष्य, परन्तु उसका कार्य है मायासृष्ट हस्ती।

मायावी से मायारचित हस्ती प्रभृति कार्य के समान सद् ब्रह्म चैतन्य से जगत् का जन्म होता है, यह बात समझ में आ सकती है; परन्तु असत् कारण से जगदुत्पत्ति कदापि सम्भव हो नहीं सकती। सदात्मा का तत्त्वतः जन्म नहीं है। किन्तु आत्मा का जो बहुरूपों से जन्म कहा जाता है, वह मायिक अर्थात् मिथ्या है। जैसे विद्यमान रज्जु माया द्वारा सर्परूप से जन्मती है वैसे ही इन्द्रियाग्राह्य सद्रूप आत्मा का जन्म माया द्वारा ही हो सकता है, परन्तु परमार्थतः जन्म रहित आत्मा का जन्म हो ही नहीं सकता। यदि वादी का यह मत स्वीकार किया जाय 'आत्मा तत्त्वतो जायते' अर्थात् परमार्थ सद्रूप आत्मा जगद्रूप से जन्म लेता है, तब तो उसके मत से ही यह निश्चय होगा कि अज का जन्म होता है। परन्तु यह निश्चय निरर्थक है, क्योंकि 'जन्म नहीं है' इससे 'जन्म है' इसका विरोध है। तब तो वादी के मत से कहना पड़ेगा कि जात पदार्थ ही जन्मता है, जात आत्मा का ही पुनः जन्म होता है। किन्तु यहाँ 'अनवस्था दोष' होता है, अतः मानना पड़ता है कि आत्मा का जन्म कदापि नहीं होता।

कोई कहते हैं कि पहले एक अद्वितीय असत् ही था, उससे ही सत् का जन्म हुआ। परन्तु ऐसा असद्वाद दूर से ही परित्याज्य है, क्योंकि असत् का जन्म माया द्वारा भी नहीं हो सकता अथवा तत्त्वतः अर्थात् वास्तव में भी नहीं हो सकता। माया के द्वारा अथवा परमार्थतः किसी भी तरह वन्ध्या को पुत्र नहीं जन्मता। इसलिए असत् जगत् एवं असत् देह की उत्पत्ति कदापि हो नहीं सकती, किन्तु आत्मा ही अज्ञान से जगद्रूप एवं देहरूप से दृष्ट होता है—"असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते। वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते।" सब दृश्य पदार्थ केवल मन ही है, क्योंकि मन की सत्ता से दृश्य (द्वैत) की सत्ता और मन के अभाव से द्वैताभाव होता है। जैसे सर्प का रज्जु में लय किया जाता है, वैसे ही विचार एवं वैराग्याभ्यास से समाधि एवं सुषुप्ति काल की तरह मन जब अमनी भाव को प्राप्त होता है, मन में

जब बाह्य विषयक स्फुरण नहीं रहता, मन जब निरुद्ध हो जाता है, तब द्वैत प्रपञ्च नहीं भासता। रज्जु की सर्परूप से प्रतीति भ्रान्ति से ही होती हैं। उस अवस्था में रज्जु बोध न रह कर सर्प बोध ही रहने के कारण भ्रान्तिवश अध्यस्त सर्प से दर्शक को भय कम्पादि भी होते हैं। यदि सत्यरज्जु का सम्यक् ज्ञान होता, तो उस अध्यस्त सर्प-बोध का अपने अधिष्ठान रज्जु में लय हो जाता और भय-कम्पादि का अभाव होता, एक सत्य रज्जु बोध ही अवशिष्ट रहता, वैसे ही रज्जु स्थानीय एक सद्रूप आत्मा-सम्बन्धि अज्ञान में सर्प-स्थानीय मनः स्फुरण हो रहा है और मन में भयकम्पादि-स्थानीय सचराचर प्रपञ्च-द्वैतरूप जगत्-भासित हो रहा है। इसीलिए कहा जाता है कि द्वैतरूप प्रपञ्च का कारण मन का स्फुरण है। किन्तु जब आचार्य के उपदेश से विचार चक्षु उन्मीलित होता है, तब सम्यक् दर्शन होता है। विचार-समाधि द्वारा मन का अमनी भाव एवं अस्फुरण प्राप्त होने पर द्वैताभास का अभाव होता है। इसलिए कहा गया है कि "उत्यभावात् सिद्धं द्वैतस्यासत्त्वमित्यथः" अर्थात् द्वैताभाव से अद्वैतभाव ही सिद्ध होता है। रज्जु ज्ञान के अभाव में जैसे रज्जु का सर्परूप में दर्शन और भय-कम्पादि होते हैं, वैसे ही आत्मज्ञान के अभाव में आत्मा का मनोरूप से दर्शन अर्थात् द्वैतप्रपञ्च दिखलायी पड़ता है। जैसे बर्फ की पुतली धूप से अपने कारण जल में लीन होती है, वैसे स्वाधिष्ठान चैतन्य से अभिन्न मनोरूप पुत्तलिका आचार्य्यरूप सूर्य्य के उपदेश प्रभाव से अन्तर्मुख होकर अपन कारण अधिष्ठानात्मारूप जल में लीन हो जाती है। तब उस विकल्प शून्य अवस्था में मन अपने वास्तविक रूप को प्राप्त होता है। उस समय वह कुछ भी संकल्प नहीं करता। उस स्थिति में ग्राह्य वस्तु का अभाव हो जाने से ग्रहण रहित होकर मन अमनी भाव को प्राप्त हो जाता है। "अमनाः शुभ्रः" इत्यादि प्रमाणों से ज्ञात होता है कि अधिष्ठान आत्मा को पाकर आत्मरूप होकर मन अ–मन हो जाता है—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"।

ज्ञान सर्व प्रकार की कल्पनाओं से रहित, अज–उत्पत्ति वर्जित--है। वह परमार्थ सत्य ज्ञेयरूपी ब्रह्म से अभिन्न हैं। "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्," "यन्मसानमनुते येनाहुर्मनोमतम्" इत्यादि श्रुतियों से जाना जाता हैं कि ज्ञान ही तृण से ब्रह्मा पर्यन्त सब का कल्पक है। 'जो सब का कल्पक है, वह स्वयं कल्पित नहीं है' इस सिद्धान्तानुसार ज्ञात ता है कि जो कल्पना---वर्जित है, वह 'अज' है। वही ज्ञप्तिमात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा है। वह आत्मा परमार्थ-सत् ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न है। श्रुति कहती है "अयमात्मा ब्रह्म" यह आत्मा ही ब्रह्म है, "नातः परमस्ति" इस आत्मा से भिन्न ब्रह्म नहीं है। "तत्त्वमेव त्वमेव तत् तत्त्वमसि" इत्यादि अमोघ श्रुति वाक्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा को ज्ञेयरूपी ब्रह्म से अभिन्न घोषित करते हैं। "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते," "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म," "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों से मालूम पड़ता है कि ज्ञान ब्रह्म-रूप ज्ञेय से अभिन्न है। अग्नि और उष्णता में जैसे भेद नहीं है, वैसे ज्ञान से ज्ञेय का भी भेद नहीं है। इसीलिए जन्म रहित, ज्ञेयस्वरूप आत्मतत्त्व आप ही आप नित्य ज्ञान द्वारा अवगत होता है अर्थात् एक ही ज्ञान ब्रह्मभाव से ज्ञेय और स्वरूपतः ज्ञाता है। जैसे सूर्य आत्म-प्रकाश के लिए इतर प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता, वैसे ही आत्मा भी स्वप्रकाश के लिये किसी प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं रखता। आत्मा स्वयं अपने आप को आप ही जानता है---ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने प्रकाश के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता।

जिस समय सत्यस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है, उस समय सङ्कल्प नहीं रह जाते, क्योंकि सत्य रूप आत्मा का दर्शन होने से बाह्य विषयों का अभाव हो जाता है। इन्धन के अभाव से जैसे अग्नि प्रशान्त हो जाता है वैसे मन भी दृश्य–दर्शन के अभाव से निगृहीत होता है, शान्त हो जाता है। यही मन की निरुद्धावस्था कही जाती है। उस समय द्वैत का अभाव हो जाता है। उस स्थिति में मन मन न रह कर प्रत्यक् चैतन्य

रूप से स्थित हो जाता है। परन्तु यह स्थिति सुषुप्ति कालीन स्थिति जैसी नहीं है। सुषुप्ति कालमें अविद्या तथा अविद्या कार्य मोह रूप अज्ञान मन को ग्रस लेता है। उस समय मन अन्तर्लीन अनेकानर्थ फलविशिष्ट प्रवृत्ति की बीज रूप वासना को अपने में रख लेता है। अन्तर्लीन वासना विशिष्ट मन का लय निरुद्ध मन की लयावस्था के समान नहीं हो सकता। महा वाक्य प्रसूत बोध रूप अग्नि द्वारा जब सम्पूर्ण वासनायें दग्ध हो जाती हैं सर्व क्लेशरूपमल जब शान्त हो जाता है, तब मन ब्रह्म रूप से स्थित होता है। काम-कर्म-वासना-अविद्यादि अनर्थ परम्परा युक्त मन का सुषुप्ति काल में जो लय होता है, वह तो सधूम अग्नि के धूमावृत होकर लीन होने की तरह अविद्या में ही लय है, परन्तु निरोधावस्था में मन आत्मतत्त्व में, ज्ञानसमुद्र में लीन हो जाता है अर्थात् उस समय आत्मा ही हो जाता है। जिस योगी को निर्विकल्प समाधि प्राप्ति होती है, वही मन का निरोध करके ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करता है।

सुषुप्ति में मन का जब लय होता है, तब वह अज्ञानमय अविशेषरूप बीजभाव को प्राप्त होता है। उस समय मन अविद्यादि निखिल व्यापारों की बीज स्वरूप वासना के साथ तमोभाव-आच्छन्नभाव अप्रकाशभाव को प्राप्त होता है अर्थात् मन के भीतर सब कुछ रहते हुये भी वह आच्छन्न रहता है, बीजावस्था में रहता है। जब मन विवेकद्वारा दृश्य-दर्शन-वैराग्य तथा तत्वज्ञान के अभ्यास द्वारा निगृहीत होता है, ज्ञानपूर्वक निरोधावस्था प्राप्त हो जाती है, तब वह अज्ञानरूप बीज भाव को प्राप्त नहीं होता, तमः स्वभाव बीज भाव में लीन नहीं होता, किन्तु अपने प्रकाश रूप स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इसलिये सुषुप्त चित्त से निरुद्ध एवं समाहित चित्त का लयभेद युक्तियुक्त ही है।

मन में जब तक ग्राह्य और ग्राहक भाव रहता है तब तक मन मल वर्जित हो ही नहीं सकता अर्थात् जब तक मन कुछ भी विषय ग्रहण करता है एवं मैं ग्रहण करता हूं ऐसा अहंभाव रखता है, तब तक वह निर्मल नहीं होता। जब मन मलवर्जित होता है, ग्राह्य-ग्राहक रूप अवि-

द्या मल से रहित होता है, तब परमाद्वैत रूप ब्रह्म भाव में स्थित हो जाता है। उस अवस्था में साधक निर्भय होकर ब्रह्म हो जाता है, ज्ञानालोक होकर सर्वव्यापी हो जाता है --"तदेव निर्भयं ब्रह्मा ज्ञानालोकं समन्ततः।" प्रकाश रूप आत्मा को देखता देखता मन अज्ञानरूप बीज भाव वर्जित होकर शुद्ध होता है। शुद्धमन ही परमाद्वैतरूप परब्रह्म को प्राप्त होता है। तभी वह निर्भय होता है-"विद्वान्न विभेति कदाचन"। भय का कारण ही द्वैत है अतः जब द्वैत ग्रहण का अभाव होता है, तब विद्वान् निर्भयब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म ही ज्ञान है। आत्मा का स्वरूप है चैतन्य यही ज्ञाप्ति रूप ज्ञान है। यही समन्ततः अर्थात् आकाशवत् सर्व दिशाओंमें निरन्तर व्याप्त है-"आकाशवत् सर्वगतः स नित्यः"। चैतन्य सत्ता ही सारी सृष्टि का अधिष्ठान है। चैतन्यसत्ता का आश्रय करके अविद्या चैतन्यवत् प्रकाशपाती है इसलिये अधिष्ठान चैतन्य में अविद्या जगत् की उत्पत्ति आदि कल्पना करती है। आचार्य मुख से तत्त्वमस्यादि महावाक्योपदेश प्राप्त हो कर जब वह अविद्या अपने अधिष्ठान आत्म रूप सत्य की उपलब्धि करती है, तब अपने असली चैतन्य अद्वैत रूप अधिष्ठान में निरोध को प्राप्त होती है, लय हो जाती है। आत्मा में सर्वकल्पना कारिणी अविद्या का जब लय हो जाता है तब ब्रह्मनामक शुद्ध, निरुपाधि, निर्विशेष चैतन्य आत्मा में कल्पना करने वाला भी कोई नहीं रह जाता। आत्मा में कल्पना-हेतु का अत्यन्ताभाव होने से अध्यारोपमात्र रूप जन्म का. जगत् की उत्पत्तिआदि का, भी अत्यन्ताभाव हो जाता है। आत्मा को जगद्रूप से दिखलाने वाली अविद्या जब आत्मा को देखती है, तब समुद्र की गम्भीरता नापने वाली लवण-पुत्तलिका की तरह उसका लय हो जाता है, तब जन्मनिमित्तक कल्पना भी नहीं रहती। इसी लिये कहा गया है कि आत्मा का जन्म नहीं है। अविद्या ही नामरूपादि की कल्पना करती है। एक अद्वैत निर्विशेष आत्मतत्त्व में नाम रूपादि की कल्पना करने वाली अविद्या का ही अभाव जहां हो जाता है, वहां आत्मा में नाम रूप की कल्पना कौन करेगा ? किसी भी

उपमा से आत्मा का निरूपण किया नहीं जा सकता। "यतो वाचो निवर्तन्ते" अर्थात् वाक्य की निवृत्ति वहां हो जाती है, इसलिये वह "अनामरूपकम्" है–वह कहीं नाम से अभिहित नहीं होता। आत्मा सर्वदा प्रकाश रूप है, क्योंकि विषयों के ग्रहण तथा अग्रहण एवं अन्यथा ग्रहण तथा आविर्भाव–तिरोभाव इत्यादि आत्मा में नहीं हैं। विषयोपलब्धि और विषयों का अग्रहण दिन तथा रात्रि के समान है, ये दो एवं अविद्यात्मक तम (अन्धकार) ये तीन ही अप्रकाश के कारण हैं। नित्य चैतन्य प्रकाशरूप होने के कारण आत्मा का सदा सकृद्विभातत्व युक्ति युक्त ही है। ज्ञान के सिवा कुछ है ही नहीं, अतः वह ज्ञान रूप सर्व रूपों से सुशोभित है। इसीलिये वह सर्वज्ञ है।

ज्ञानयोगी विचार द्वारा अनुभव करते हैं कि जैसे रज्जु ही रहता है, साँप केवल कल्पना से रहता है, वस्तुतः सचमुच आदौ रहता नहीं, वैसे चैतन्य ही है, वह चैतन्य ही मिथ्या माया से मनोरूप में,इन्द्रियरूप में दृष्ट हो रहा है। ये सब कल्पना मात्र है, अतः मिथ्या है। आत्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं और वह आत्मा मैं ही हूं,ऐसा निश्चय जिसने कर लिया, वह अद्वय ज्ञान में स्थित हो गया। भगवान् वशिष्ठ ने कहा है कि साधना की कुछ भी आवश्कता नहीं है,केवल यह जानना चाहिये कि एक मात्र सत्य वस्तु आत्मा ही है और वह आत्मा मैं ही हूं;इससे अतिरिक्त यदि कुछ दृष्ट या श्रुत होता हो तो वह मायिक है अर्थात् कल्पना मात्र है —"अस्य देवादि देवस्य परस्पर परमात्मनः। ज्ञाना देव परा सिद्धिर्वतु अनुष्ठान दुःखतः।"आप ही आप भाव से स्थित हो जाओ कुछ भी कल्पना न करो अथवा स्वरूप-विश्रान्ति वस्तु को समझो,कल्पनाकारी मन आप ही निरुद्ध हो जावेगा।

ऐसे विचार में असमर्थ पुरुष को मनः सङ्कल्परोध के लिए शुभ सङ्कल्प द्वारा मनः शोधन करना चाहिये। उसको उपासनामार्ग में रहना चाहिये। ईश्वर की सहायता से मन से ईश्वरातिरिक्त सङ्कल्प का त्याग कर शुद्ध करना चाहिये। इसका नाम 'मनोनिग्रह'है।

इसमें भी जो समर्थ न हो उनको चाहिये कि अपनी इन्द्रियों को भोगाकांक्षासे दूर रक्खें। वे कर्म योगी कहे जाते हैं। केवल ईश्वरानुग्रह के लिये कर्म करना चाहिये, कर्म फल के लिये नहीं। इस रीति से ईश्वर प्राप्ति से मन पूर्ण हो जाने पर विषय-ग्रहण की इच्छा नहीं होती, अतः मन भी कुछ सङ्कल्प नहीं करता। उस स्थिति में विचार उत्पन्न होगा कि मन, इन्द्रिय सभी मिथ्या है, अविद्या ही मिथ्या इन्द्रजाल दिखला रही थी। मनोनिग्रह के लिये काम-भोग से विक्षिप्त हुये मन को आत्मा में बैठाना चाहिये, सुषुप्ति में खेद रहित होकर अज्ञान में लय प्राप्त मन का निग्रह करना चाहिये। आत्मा में स्वर्गादि भोग तथा ऐहलौकिक दृश्यादृश्यादि विषय सभी कुछ एक अधिष्ठान चैतन्य में अध्यस्त हैं। आत्मातिरिक्त सभी वस्तु कल्पित होने से असत् हैं। आत्मा ही एक मात्र सत् है और कुछ है ही नहीं। विचित्र जगद्रूप से भासमान सब कुछ मन की कल्पना मात्र है और वे आत्मा में अध्यस्त होकर आत्मा को ही उन नामरूपों से विचित्र दिखलाते हैं। इन सब असत्य विषयों को त्याग कर, उन सबके आश्रय सत्यरूप आनन्दघन आत्मा में मन को स्थिर करना चाहिये। सुषुप्ति में मनोलय होने से मन जैसे प्रसन्न (खेदरहित) होता है, वैसे सुप्रसन्न मन का भी निरोध करना कर्तव्य है अर्थात् प्राणायामादि द्वारा मनश्चञ्चलता को स्थिरी भूत करके भी मनोलय होता है इससे मन प्रसन्न रहता है। परन्तु, ऐसा लय भी काम भोग जैसा है। इस लिये सुषुप्ति, निद्रा आदि में मन को जाने नहीं देना चाहिये, क्योंकि ज्ञान में जो स्थिति है वही असली स्थिति है, अविद्य रूप जड़ सुप्ति ज्ञान-स्थिति में बिघ्न रूप है। सुषुप्ति में मन लय होकर प्रसन्न रहता है, परन्तु सुषुप्ति भी अविद्या-अज्ञान-है। सुषुप्ति में लय होने पर भी मन पुनः जाग्रत्-स्वप्न रूप दुःखों में निमग्न होता है। इसलिये जैसे काम अनर्थ का हेतु है, वैसे सुषुप्ति में लय भी अनर्थ रूप ही है। अतः जैसे विषय भोग से मन का निग्रह करना चाहिये वैसे निद्रा से भी मन का निग्रह करना चाहिये। लय, विक्षेप, रसास्वाद (सुरुचि) और कषाय (राग) ये

सभी विघ्न हैं। इन विघ्नों को दर करके ज्ञान में (ईश्वर में) मन लीन करना चाहिये।

विक्षेप और लय को दूर करने का उपाय ह ज्ञानाभ्यास और वैराग्य। सब कुछ ही दुःखस्वरूप स्मरण करके कामभोगनिवारण कर्तव्य है। समस्त द्वैत अविद्यारचित होने से दुःख रूप स्मरण कर कामना-वशीभूत मन को इहलोक का तथा परलोक का भोग बासना विक्षिप्त चंचल मन को निवृत्त करके एक ओर से इसको आत्मतत्व का श्रवण-मनन रूप ज्ञानाभ्यास कराना चाहिये और दूसरी ओर से नामरूप क्रियात्मक मिथ्या जगत में दृश्य दर्शन को सम्पूर्णतया इन्द्रजाल समझकर इन्द्रजाल को न देखकर भूलने का तथा सब ही अज-ब्रह्म है ऐसा सदा स्मरण करने का उपदेश देकर मन को इन दो साधना में लगाना चाहिये। लयकाल में चित्त को जगाने का उपाय है आत्मा और अनात्मा का विचार। आत्मा चिरजाग्रत् है और अनात्मा अचेतन है। रे चित्त! तू आत्माभि-मुखी न होकर लीन होने के लिये कहाँ जाता है! आत्मा का निर्गुण सगुण अवतार भाव कितने सुन्दर हैं। तू इसका चिन्तन करता हुआ जाग्रत रह जा। आत्मा नित्य जाग्रत् है, लयादि का साक्षी, बोधस्वरूप है—ऐसे चित्त को स्मरण कराकर अधिष्ठान चैतन्य में चित्त को जाग्रत् रखना चाहिए। और विषय विक्षिप्त चित्त को—काम भोगासक्त चित्त को वैराग्य द्वारा कामविषयभोग के दोष दिखलाकर शान्त कर देना चाहिये। इस भाव से वैराग्य-अभ्यास द्वारा जब चित्त लय से जगा एवं विक्षेप से शान्त हुआ किन्तु तब भी समभाव प्राप्त हुआ नहीं, ब्रह्मभाव लाभ नहीं किया—अर्थात् जब मध्यावस्था में है—तब उसी अवस्था में चित्त दोषयुक्त रह जाता है, अर्थात् लयसे जाग्रत हुआ अथच समता प्राप्त नहीं हुआ। इसी मध्यावस्था प्राप्त चित्त तब भी रागद्वेषादि का बीज के साथ जड़ित रहता है। इसको भी त्याग करके जब चित्त समस्त वृत्तियाँ त्यागता है, केवल समभाव प्राप्ति के सम्मुख होता है तब उस चित्त को चञ्चल नहीं करना अर्थात् विषयाभिमुखी नहीं करना। समाधि

लाभ करने के समय जो सुख अनुभूत होता है अर्थात् आत्मा के पास जाने के विचार से जो सुख अनुभव गम्य होता है, उसको भी आस्वादन नहीं करना चाहिये अर्थात् उस. रसास्वाद में आसक्त होना नहीं चाहिये। संगशून्य तथा स्पृहाशून्य रह कर विचारना चाहिये कि जो सुख अनुभूत हो रहा है वह भी अविद्याकल्पित है, इस कारण मिथ्या है। उसी सुखानुराग से भी मन को निग्रहीत करना कर्तव्य है। सविकल्प समाधि का अन्त तथा निर्विकल्प समाधि का पूर्व इस सन्धि समय में एक विशेष सुखास्वादन होता है, उसको 'रसास्वाद' कहते हैं। उसी रसास्वाद में भी आसक्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह भी अविद्याकल्पित है—वह आत्मानन्द सख नहीं हैं। प्रज्ञा अर्थात् विवेकवती बुद्धि द्वारा विचारना होता है कि आत्मा निःसंग है—अविद्यात्मक सुख में उसका स्पृहालेश नहीं है—मैं भी आत्मा हूँ, मैं भी निस्पृह हूं। ज्ञानाभ्यास एवं वैराग्यरूप उपाय द्वारा निरुद्ध चित्त जब सुषुप्ति में भी लय नहीं होता तथा विषयों से भी विक्षिप्त नहीं होता—जब वह चित्त, लय, विक्षेप, रसास्वाद और कषायरूपी विघ्नों से रहित हो जाता है एवं निवात निष्कम्प प्रदीपवत् निश्चल होता है—कोई भी कल्पित विषय में भासता नहीं—अर्थात् जैसे सुषुप्तिकाल में चित्त अपना कारण अविद्या में लीन होकर नहीं भासता वैसे ही चित्त ज्ञान में लीन होकर आकारान्तर में नहीं भासता—जिस स्थिति में चित्त ऐसा होता है, तब वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। ब्रह्मस्वरूप—सर्वोत्तम ब्रह्मानन्द सुख, विषयजनित न होने से केवल परमशान्त निर्वाणरूप होने के कारण, वाक्य द्वारा प्रकाश किया जा नहीं सकता, वह जन्म नहीं लेता, अतः अजनित्य है। इस अनुत्पन्न ज्ञेय आत्मतत्त्व से अभिन्न अपना सर्वज्ञरूप ही सर्वज्ञ ब्रह्म है। वह ज्ञान ही ब्रह्म है। एकमात्र परमार्थवस्तु—ब्रह्म ही है। मनोनिग्रह, उपासनादि ब्रह्मप्राप्ति का उपायमात्र है—वें आदौसत्य नहीं है। एक मात्र सत्यस्वरूप ब्रह्म ही है, वही भास रहा है—उसमें कुछ भी वस्तु उत्पन्न नहीं हुई—जीव भी उत्पन्न नहीं होता, सृष्टि

भी हुई नहीं। माया की विचित्र कल्पना (मनोमाया) ब्रह्म में अवभासित होकर ब्रह्म को विचित्र सृष्टि रूपों से दिखलाती है। वास्तव में ब्रह्म ही है—माया भी नहीं है—सृष्टि भी नहीं है—चित्त भी नहीं है—जो है वही है। तत्त्वज्ञान के अभाव से जब अन्तर में नानाभ्रमदायिनी सूक्ष्मवासना स्फुरित है, तब मनुष्य आकाश में ऐन्द्रजालिक शिखिपिच्छिका–दर्शनवत् दुर्दृश्य ब्रह्माकाश में अनन्त जीव अनन्त जगत् देखता रहता है। किन्तु श्रवण, मननादि द्वारा तत्वज्ञानोदय से जिस की वासना समूल उन्मूलित होती है, वह मनुष्य पुनः कदापि कोई भ्रम देखता नहीं—परमात्मा को ही स्वरूप से देखता है अर्थात् परमपद में स्थित हो जाता है। इसलिये पूज्यपाद गौड़पादाचार्य ने कहा है—"नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन। न पृथङ्नापृथक् किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः॥ वीतरागभय क्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः। निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टिः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः॥ तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत् स्मृतिम्। अद्वैतं समनुप्राप्य जड़वल्लोकमाचरेत्॥"

६

सृष्टि

ईश्वर जगत् सृष्टि करता है इस विषय में बहुत मतभेद देखा जाता है। उन मतभेदों का सङ्कलितसार सङ्कलित करने पर उसे तीन प्रकार से विभक्त किया जा सकता है। जीवों के कर्मानुरोध से, लीलार्थ और अज्ञान प्रयुक्त। इसमें लीलार्थ सृष्टि के दो भेद हैं--नित्य जीवों के साथ लीलार्थ सृष्टि और ईश्वर का स्वयं जीव रूप धारण करके उनके साथ लीलार्थ सृष्टि। अज्ञान प्रयुक्त सृष्टि के भी दो भेद हैं--स्वभाव वश सृष्टि अर्थात् जीवों के अज्ञान वशात् स्वभाववश से हुई सृष्टि को ही ईश्वर कर्तृक सृष्टि मानना और जीव, जगत्, ईश्वर और सृष्टि सभी के मिथ्या होने पर भी अर्थात् न होने पर भी अज्ञान वशात् उनकी प्रतीति होना। इनमें प्रथम मत न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा पातञ्जलि प्रभृति द्वैतवादियों का है। दूसरे प्रकार के प्रथम भेद में विशिष्टाद्वैत-वादी, द्वैताद्वैतवादी प्रभृति सभी भेदाभेदवादी अर्थात् भक्तवादी आते हैं और दूसरे भेद में शक्ति विशिष्ट अद्वैतवादी एवं स्वातन्त्र्यवादी शैव-प्रभृति आते हैं। तृतीय प्रकार के प्रथम भेद में स्वभाववादी अर्थात् जड़ विज्ञान मतवादी, चार्वाकमतवादी, सर्वास्तित्ववादी, विज्ञानवादी, शून्यवादी बौद्ध और जैनादि का स्थान है और तृतीय प्रकार के दूसरे भेद में अद्वैतवादी वेदान्ती का स्थान है अर्थात् दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्ती और सृष्टि आदि तीनों काल में है ही नहीं ऐसा मानने वाले अज्ञातवादी वेदान्ती का स्थान है।

उपनिषदों में जगदुत्पत्ति की कथा बहुत प्रकार से कही गयी है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में सद्रूप परमात्मा से अग्नि, जल, पृथिवी इस क्रम से जगदुत्पत्ति का वर्णन है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में आकाश,

वायु, अग्नि, जल पृथिवी इस क्रम से सृष्टि कही गयी है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में परमेश्वर से जगत् की सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। इसमें बिना क्रम से ही जगत् की उत्पत्ति कहीं गयी है। इस प्रकार वेद में सृष्टि के अनेक प्रकार कहे गये हैं। उन स्थलों में वेद का तात्पर्य चैतन्यभिन्न वस्तु की असारता, जगन्मिथ्यात्व के प्रदर्शन में है। जगत् सत्य पदार्थ होता, तो श्रुति अनेक प्रकार से जगदुत्पत्ति न कहती। किन्तु अनेक प्रकार से जगदुत्पति के वर्णन से ज्ञात होता है कि श्रुति का अभिप्राय जगदुत्पति के प्रतिपादन में नहीं है, परन्तु वहां अद्वैत ब्रह्म को लक्ष्य कराने के लिये और जगत् के निषेधार्थ मिथ्या जगत् का जिस किसी भी प्रकार से ब्रह्म में आरोप किया गया है। श्रुति में प्रपञ्चोत्पत्ति एकरूप से उक्त न होने से ज्ञात होता है कि वेद का अभिप्राय प्रपञ्च के निषेध में ही है, जगत् के उत्पत्ति वर्णन में नहीं।

सूत्रकार भगवान् श्री व्यास और भाष्यकार भगवान् श्री शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' के द्वितीयाध्याय में उत्पत्ति बोधक श्रुतिवाक्यों के विरोध परिहारपूर्वक तैत्तिरीयश्रुतिके अनुसार समस्त उपनिषदों का तात्पर्य जो एक रूप वर्णन किया है वह मन्द बुद्धि जिज्ञासु के लिये जानना चाहिए। उत्पत्ति बोधक वाक्यों के पूर्वोक्त अभिप्राय का ज्ञान न रहने से मन्दबुद्धि जिज्ञासु को उपनिषदों में उत्पत्ति के विषय में परस्पर विरोध देखकर 'उपनिषदों में परस्पर विरुद्ध कथन हैं', ऐसा भ्रम होता है। उसे दूर करने लिये 'उपनिषदों में एक ही प्रकार से जगदुत्पत्ति बतलायी गई है' ऐसा सूत्र-भाष्यादि में कहा गया है।

जिसे ब्रह्म विचार द्वारा यथार्थज्ञान नहीं हो सकता, उसे लयचिंतन द्वारा अद्वैत-बुद्धि स्थित करने के लिये श्रुति में उत्पत्ति क्रम प्रदर्शित हुआ है। जिस क्रम से उत्पत्ति क्रम प्रदर्शित हुआ है जिस क्रम से उत्पत्ति कही गयी है, उसके विपरीत क्रम से लयचिन्तन करना पड़ता है। वैसे लयचिन्तन द्वारा अद्वैत में बुद्धि स्थित हो जाती है।

शुद्ध ब्रह्म से जगदुत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह असंग और अक्रिय है। परन्तु मायाविशिष्ट ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति होती है। शुद्धसत्त्वगुणविशिष्ट माया का अधिष्ठान चैतन्य और मायास्थित आभास इन तीनों के मिलने से ईश्वर नाम होता है। वह ईश्वर सर्वज्ञ और जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। रजोगुण और तमोगुण का अभिभवकारी सत्त्वगुण 'शुद्धसत्त्वगुण' कहा जाता है। यह ईश्वर की उपाधि है (जो) वस्तु या धर्म स्वयं पृथक् रहकर अपने अवस्थिति स्थान में स्थित अन्य वस्तु का ज्ञान कराता है उसे 'उपाधि' कहते हैं। जैसे न्याय मत से कर्णगोलक मध्यवर्त्ती आकाश श्रोत्र कहा जाता है। वहां कर्णगोलकश्रोत्र की उपाधि है, क्योंकि वह कर्णगोलक स्वयं जितने स्थान में है, उतने स्थान के आकाश को श्रोत्ररूप से जनाता है और स्वयं श्रोत्र से भिन्न रहता है अर्थात् वह श्रोत्र के स्वरूपान्तर्गत नहीं होता, अतएव वह श्रोत्र की 'उपाधि' है)। जो सत्वगुण स्वयं रज और तमोगुण द्वारा अभिभूत रहता है, वह 'मलिन सत्व' कहा जाता है। यह जीव की उपाधि है। मलिन सत्त्वगुणविशिष्ट अज्ञान (माया), उस अज्ञानांश में जो चैतन्य का आभास (प्रतिविम्ब) होता है वह और उस अज्ञान का अधिष्ठानभत कूटस्थ (चैतन्य) ये तीनों मिल कर 'जीव' कहा जाता है। जीव ही कर्म करता है और फल कामना भी करता है। जिस समय जीवों का कर्म फलदानार्थ उन्मुख नहीं रहता उस समय प्रलय रहता है और जीवों का कर्म फलदानोन्मुख होने पर सृष्टि होती है। इस तरह जीवों के कर्माधीन सृष्टि कही गयी है।

जीवों के कर्मानुसार उत्कृष्ट-अपकृष्ट भोग के निमित्त ईश्वर सृष्टि करता है। सुतरां ईश्वर में क्रूरता या विषम दृष्टि अर्थात् पक्षपातित्व नहीं है। यदि कहा जाय कि सर्वप्रथम जो सृष्टि होती है उसमें जीव का कर्म नहीं रहता, फिर भी उसमें उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट शरीर और तदनुयायी भोगों की ईश्वर रचना करता है अतः ईश्वर पक्षपात दोष युक्त है इत्यादि। किन्तु यह आशङ्का अयौक्तिक है, क्योंकि संसार

अनादि हैं। उत्तरोत्तर सृष्टि के प्रति पूर्व-पूर्व सृष्टि के कर्म ही कारण होते हैं। किसी सृष्टि को सर्व प्रथम सृष्टि नहीं कहा जा सकता। सुतरां ईश्वर में पक्षपातित्व दोष नहीं है। माया अनादि होने से माया कल्पित जीव, ईश्वर और सृष्टि, सभी अनादि कहे गये हैं। जिस समय जीव के कर्मानुरोध से ईश्वर जीवों के कर्म फल प्रदान में उन्मुख होता है, उसी समय ईश्वर में 'जीवों के कर्मफल भोग के निमित्त जगत् उत्पन्न हो जाय, ऐसी इच्छा होती है। वस्तुतः ईश्वर में जीवकर्मानुरोध से ऐसी इच्छा का उदय होने पर माया तमोगुण प्रधान हो जाती है और उससे आकाश, वायु, तेज, जल और भूमि इन पांच भूतों की सृष्टि होती है और इन में यथा क्रम शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण उत्पन्न होते हैं (यहां विचार का विषय यह है कि लीलावादी या ईश्वर स्वातन्त्र्यवादी लोग जीवकर्मानुरोध से ईश्वर की सृष्टि स्वीकार नहीं करते। उनके मत में ईश्वर की लीला ही सृष्टि के प्रति हेतु है। अथवा ईश्वर स्वयं स्वतन्त्र स्वभाववश ही सृष्टि करता है तब तो ईश्वर में वैषम्य-नैर्घृण्य दोष अपरिहार्य होते हैं,) उक्त भूतवर्ग के मिलित सत्त्वगुणांश से अन्तःकरण और उनके मिलित रजोगुणांश से प्राण की उत्पत्ति होती है। एक-एक भूत के सत्वगुणाँश से एक-एक ज्ञानेन्द्रियऔर रजोगुणांश से एक-एककर्मेन्द्रिय उत्पन्न हो तीहै। अपंचीकृतभूत और तत्कार्य अन्तः करण, प्राण, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय यह सब सूक्ष्म सृष्टि है। सूक्ष्म सृष्टि का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं होता। चक्षु, नासिका प्रभृति के गोलक-आधार-ही इन्द्रियग्राह्य होते हैं। परन्तु वे गोलक मध्य स्थित इन्द्रियां किसी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होती। सूक्ष्मसृष्टि के बाद ईश्वरेच्छावशात् स्थूल सृष्टि के लिये भूतवर्ग का पंचीकरण होता है अर्थात् पांच भूतों में प्रत्येक भूत का तदितर चारों से मिश्रण होता है।

इस पञ्चीकृत भूतवर्ग से ही इन्द्रियों के ग्रहण योग्य स्थूल ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है। इसमें यथाक्रम उपर्युपरिभाग में भू, भुवः, स्वः, महः, जन, तप और सत्य ये सात और यथाक्रम निम्नभाग में अतल, सुतल,

पाताल, वितल, रसातल, तलातल और महातल ये सात लोक अवस्थित हैं। उक्त चतुर्दश लोकों में जीवों के भोग योग्य अन्नादि, स्थान तथा देव, मनुष्य, पशु प्रभृति का स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ है।

पहले कहा जा चुका है कि श्रुति में जो क्रम सृष्टि की कथा मिलती है, वहाँ सृष्टि-प्रतिपादन श्रुति का मुख्य उद्देश्य नहीं है, अपितु अद्वैत बोध कराना ही श्रुति का अभिप्राय है। श्रुति म कहा गया है कि निखिल पदार्थ परमात्मा से उत्पन्न हैं, अतः वे परमात्मा के विवर्त्तमात्र है। जो वस्तु जिस की विवर्त्त होती है, वह उसका स्वरूप होता है। सुतरां जिसके नाम तथा रूप हैं, वह ब्रह्म से पृथक् नहीं है, वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही है——इस तत्त्व को बोधगम्य कराने के लिए श्रुति ने सृष्टि का वर्णन किया है, सृष्टि प्रतिपादन का और कोई अन्य उद्देश्य नहीं है।

देश, काल प्रभृति सामग्री के बिना ही स्वप्न काल में हस्ती, पर्वतादि वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, इसलिए स्वप्नदृष्ट वस्तु को मिथ्या कहते हैं। उसी प्रकार आकाशादि प्रपञ्च की भी सृष्टि ब्रह्म से होती है और उस ब्रह्म में देश-काल का लेशमात्र भी नहीं है अर्थात् ब्रह्म देश कालादि द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। स्वप्न में हस्ती, पर्वतादि उत्पन्न होने में उपर्युक्त देश और काल यद्यपि नहीं रहते, तथापि निद्रितावस्था में कण्ठ मध्य में स्वप्न दर्शन होने के कारण अल्प देश और काल का अस्तित्व स्वीकार्य होता है। परन्तु आकाशादि प्रपञ्च की सृष्टि में स्वल्प देश-काल भी नहीं रहते, क्योंकि देश-काल रहित परमात्मा से आकाशादि की सृष्टि श्रुति में कही गयी है। इसलिए तैत्तिरीय श्रुति में आकाशादि क्रम से सृष्टि का वर्णन पाया जाता है, उसमें देश-काल की सृष्टि की कथा नहीं कही गयी है अर्थात् ब्रह्म से आकाशादि की सृष्टि में देश-काल की अपेक्षा नहीं है, यही श्रुति का तात्पर्य है और इसीलिए सूत्रकार तथा भाष्यकार ने भी देश-काल की सृष्टि प्रदर्शित नहीं की है।

सृष्टि के विषय में तीन वाद प्रसिद्ध हैं—अजातवाद, दृष्टि सृष्टि-वाद और सृष्टिदृष्टिवाद। इनमें अजातवाद में जगत् की अत्यन्त निवृत्ति सर्वदा ही वर्तमान है, जगत् की किसी भी प्रकार से सत्ता नहीं है, क्योंकि यदि सत्ता होती, तो वह अबाध्य होती। अजातवाद में जगत् ही नहीं है, और वह दृश्य भी नहीं होता अर्थात् जगत् की प्राति-भासिक सत्ता भी नहीं है। ('देखा जाता है' इसीलिए जिसकी सत्ता का ज्ञान होता है, वह सत्ता 'प्रातिभासिक सत्ता' है और 'है' रूप से जिसकी सत्ता का ज्ञान होता है, वह सत्ता 'व्यावहारिक सत्ता' कही जाती है। प्रातिभासिक सत्ता का दृष्टान्त रज्जु सर्प, मरुभूमि का जल प्रभृति है और व्यावहारिक सत्ता का दृष्टान्त रज्जु, घट, पट, पिपासा प्रभृति है। प्रातिभासिक व्यावहारिक से अथवा प्रातिभासिक से नष्ट होता है और व्यावहारिक पारमार्थिक से अथवा व्यावहारिक से नाश को प्राप्त होता है) दृष्टि सृष्टिवाद में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार की जाती है। यहां दृष्टि का अर्थ अविद्यावृत्ति रूप ज्ञान है और उस ज्ञान का जो विषय है वह ज्ञानकाल में ही रहता है, यही यहां सृष्टिशब्द वाच्य है। सृष्टि दृष्टिवाद में 'जगत् है, इसलिये देखा जाता है' यह स्वीकार किया जाता है। इस मत में जगत् की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों सत्तायें मानी जाती हैं। इस वाद में जगत अनित्य या मिथ्या नहीं है।

७

दृष्टि सृष्टिवाद

जाग्रदवस्था के पदार्थों के समान स्वप्नावस्था के पदार्थों में भी कार्य कारण भाव प्रतीत होता है। जैसे किसी को ऐसा स्वप्न दिखाई पड़े कि मेरी स्त्री को पुत्र हुआ है। वहां स्त्री में कारणता और बहु काल स्थापिता प्रतीत होती है। परन्तु पुत्र में कार्यता और अल्पकाल स्थापिता प्रतीत होती है। साथ ही वे समकालवर्ती भी प्रतीत होते हैं परन्तु उनमें कोई किसी का कारण नहीं है वहां स्त्री,पुत्र आदि का उपादान कारण अविद्या ही है। उसी प्रकार जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी कोई तो अधिककालस्थायी और कारण रूप प्रतीत होते हैं और कोई अल्पकालस्थायी एवं कार्यरूप प्रतीत होते हैं। परन्त जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी कोई किसी के कार्य या कारण नहीं है, वे सभी साक्षात् अविद्या के कार्य हैं। जाग्रत् तथा स्वप्न विभिन्न होने पर भी कौन अवस्था जाग्रत् है और कौन स्वप्न इसका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक स्वप्न स्वप्नकाल में जाग्रत् बोध होता है, अतः जाग्रत् और स्वप्न दोनों कल्पित अवस्थाविशेष हैं। अभी बतलाया गया कि सभी पदार्थ साक्षात् अविद्या के कार्य हैं। शुक्ति में रजत के समान अथवा स्वप्न के समान अविद्या की वृत्ति से उपहित साक्षी के द्वारा उन का प्रकाश होता है अतः सभी पदार्थ साक्षी भास्य है। इसलिये अविद्या का ज्ञानाकार तथा ज्ञेयाकार परिणाम एक ही काल में उत्पन्न होता और एक ही काल में नष्ट भी होता है। जिस काल में पदार्थ प्रतीत होता है, उसी काल में उस प्रतीति के विषयभूत पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं अन्य काल में नहीं होते या नहीं रहते। अर्थात् जब ही जिस का ज्ञान होता है, तभी वह अनन्त देश, अनन्त काल तथा अनन्त कार्यकारणभाव इन तीनों

के साथ सम्बन्ध रूप से ही ज्ञात होता है, इस से अतिरिक्त उसका ज्ञान नहीं होता अर्थात् ज्ञानातिरिक्त सत्ता उसकी नहीं रहती। यही दृष्टि-सृष्टि वाद कहा जाता है।

इस मत में जो सत्ता ज्ञान नहीं होती, उसका अस्तित्व ही नहीं रहता अर्थात् ज्ञानातिरिक्त किसी प्रकार की सत्ता नहीं है। जगत् देखा जाता है इस लिये वह है, वास्तव में जगत् रहने के कारण इसे नहीं देख रहे हैं। इस मत में अनात्म पदार्थ स्वप्न के समान प्रातिभासिक माने जाते हैं, प्रतीतिकाल से भिन्नकाल में अनात्मवस्तु की सत्ता नहीं रहती। इसी लिये इस मत में पारमार्थिक और प्रातिभासिक यह दो सत्ता स्वीकार की जाती हैं, व्यावहारिक सत्ता नहीं मानी जाती। इस मत में अनात्मपदार्थ साक्षीभास्य हैं। कोई भी अनात्म वस्तु प्रमाता या प्रमाण का विषय नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण, इन्द्रिय और घटादि सब त्रिपुटियां और उन के ज्ञान स्वप्न के समान एक ही काल में उत्पन्न होते हैं, उनका विषय-विषयिभाव नहीं बन सकता। यदि घटादि विषय, नेत्र प्रभृति इन्द्रियां तथा अन्तःकरण, ये सब ज्ञान से पूर्व उत्पन्न होते,तो नेत्रादि द्वारा अन्तःकरण के वृत्ति रूप ज्ञान प्रमाण जन्य हो सकता, परन्तु वह अन्तःकरण, इन्द्रिय और विषय ये तीनों ज्ञान के पूर्व उत्पन्न नहीं होते, अपितु ज्ञान के साथ ही अर्थात् जिस काल में ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी काल में स्वप्न के समान उत्पन्न होते हैं। सुतरां कोई भी ज्ञान त्रिपुटी अजन्य नहीं है। फिर भी सभी ज्ञान अन्तःकरण, इन्द्रिय और विषय-इस त्रिपुटी से उत्पन्न प्रतीत होते हैं। इस लिये जाग्रदवस्था के पदार्थ भी साक्षीभास्य हैं, प्रमाण जन्य ज्ञान के विषय नहीं, अतः ये स्वप्न के समान मिथ्या हैं।

इस पर यह शंका हो सकती है कि तब तो दृष्टि सृष्टिवाद क्षणिक विज्ञानवाद के समान हुआ, सुतरां विज्ञानवादी बौद्ध से दृष्टिसृष्टिवादी का क्या भेद है? इसका समाधान यह है कि विज्ञान वादी का विज्ञान क्षणिक और सत्य है परन्तु दृष्टि सृष्टिवादी का विज्ञान क्षणिक नहीं, वह स्थिर और सत्य है। विज्ञानवाद में विज्ञान साकार रूप से अनादि

संस्कार द्वारा उत्पन्न होकर विनष्ट होता जाता है, किन्तु दृष्टिसृष्टिवाद में अनादि संस्कार रूप ज्ञान नाश्य अज्ञान से उत्पन्न अन्तःकरण की क्षणिक वृत्तिधारा में नित्य सत्य विज्ञान का प्रतिफलन अथवा तादात्म्याध्यास होता है। उस से वह वृत्ति ही विज्ञानाकार होती है। अधिष्ठान स्वरूप उस नित्य सत्य विज्ञान के ज्ञान से उस क्षणिक विचार धारा का मिथ्यात्व-ज्ञान जन्य अभाव हो जाता है। जिस क्षणिक विज्ञान को बौद्ध लोग तत्त्व कहते हैं वेदान्त मत में वह वृत्तिज्ञान है। अधिक क्या, वह भी वेदान्त सम्मत क्षणिक नहीं है। बौद्ध मत में क्षणिकत्व उत्पत्ति के परक्षण में ही नष्ट होता है और वेदान्ती का क्षणिकत्व तृतीय क्षण-नाश्य है अथवा जब तक एकाकार ज्ञान रहता है, तब तक स्थायी रहता है। बौद्ध का क्षणिक विज्ञान सत्य और वेदान्ती का क्षणिक विज्ञान मिथ्या है अर्थात् न होने पर भी प्रतिभातमात्र होता है।

इस पर कहा जा सकता है कि यदि आत्मा एक ही वस्तु है और उस एक आत्मा की दृष्टि ही सृष्टि है अर्थात् दृष्टि मात्र ही के विषय रूप यह दृश्य प्रपञ्च प्रतिभात होता है, तो जिसकी दृष्टि के निमित्त सृष्टि होती है, उस की दृष्टि के नाश से उसकी सृष्टि का नाश होगा और तब उसकी मुक्ति होगी और साथ ही सब की मुक्ति हो जायगी, क्योंकि अन्य सब भी उसकी दृष्टि के ही विषय हैं, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं हैं। परन्तु ऐसा कहां होता है ? यदि वशिष्ठ, शुक प्रभृति ज्ञानियों की मुक्ति हो गई हो, तो हमारे साम्हने यह जगत् क्यों प्रतिभात हो रहा है ? इसका समाधान यह है कि दृष्टि सृष्टिवादी की प्रधान युक्ति यह है कि बिना ज्ञान के किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं होती। निखिल वस्तु ज्ञान का आकार विशेष है। अज्ञात वस्तु की जो सत्ता स्वीकार की जाती है, वह भी ज्ञान द्वारा ही की जाती है। अज्ञान की सत्ता भी ज्ञान से ही सिद्ध होती है। ज्ञान में जिसका आकार नहीं भासता, उसका ज्ञान ही नहीं होता, उसकी सत्ता भी सिद्ध नहीं होती। हां, ज्ञान में आकारों की क्यों भासमानता होती है इसका निर्णय

नहीं हो सकता, उसका अनादि संस्कारजन्य अनुमान होता है। परन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि शुद्ध ज्ञान स्वरूप अधिष्ठान का ज्ञान होने पर यह भासमानता फिर नहीं रहती, अतएव इसकी नित्यता स्वीकार नहीं की जाती। यह भावरूप अनादि भ्रमविशेष होकर भी सान्त है। अतएव इसे अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या कहा जाता है।

हमारे द्वारा अन्य की सत्ता स्वीकार करने पर अर्थात् हमारे ज्ञान द्वारा अन्य के ज्ञान का आकार धारण किये जाने पर दूसरे की और उसके ज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है, अन्य के ज्ञान की सत्ता से हमारे ज्ञान की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इस रीति से हमारे ज्ञान का आकार ही सब वस्तुयें हैं। हमारे ज्ञान के अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। हमारे ज्ञान से अतिरिक्त जो वस्तु स्वीकृत होगी, वह भी हमारे ज्ञान के द्वारा ही होगी। अतएव हमारे ज्ञान से ही सब की सत्ता है, अन्य के ज्ञान से हमारी सत्ता नहीं है।

जो शुद्ध ज्ञान है, उसमें 'मैं' और 'अन्य' ये दो आकारमात्र या उपाधि मात्र हैं। इसलिये अन्य के ज्ञान भी हमारे ज्ञान के समान प्रतीत होते हैं। वस्तुतः अहंत्व और अपरत्व इन दो उपाधियों से वर्जित ज्ञान वस्तु एक ही है। अहंत्व-उपाधि सहित ज्ञान का ही आकार सभी वस्तुएं हैं ऐसा दृष्टि सृष्टिवाद का सिद्धान्त नहीं है। ऐसा सिद्धान्त तो विज्ञानवादी बौद्ध का है और इसीलिये उसके मत का भगवान् भाष्यकार ने 'बृहदारण्यक' के चतुर्थ अध्याय तृतीय ब्राह्मण में खण्डन किया है। उपाधि सहित 'मैं' ज्ञानके आकार सभी वस्तु हैं यह कहने के लिए जैसे ज्ञान विषय की सत्ता ज्ञानाधीन स्वीकार की जाती है, वैसे ही अज्ञात वस्तु की सत्ता स्वीकार करने के लिये अज्ञान को द्वार करके उसकी सत्ता स्वीकार की जाती है। 'मैं' कहने से जिस शुद्ध मैं रूप ज्ञान वस्तु का बोध होता है, उसकी ही सत्ता से सब की सत्ता है, उसके ही आकार सभी वस्तु हैं। उपाधिविशिष्ट मैं के ज्ञान का आकार सब वस्तुयें नहीं हैं। दृष्टिसृष्टिवाद में मैं ही सब कुछ है। मैं

में ही सब कल्पित है। देश, काल, वस्तु जीव, जगत्, ईश्वर, देव, दानव प्रभृति मैं में कल्पित हैं। दृष्टिसृष्टि वाद इस शुद्ध शब्द 'मैं' को मैं जानने का उपदेश देता है।

इस मत में एक ही आत्मा मानों स्वप्न देख रहा है। इसमें दृश्य की सत्ता दर्शनजन्य सत्ता है, दृश्य के सत्ताजन्य दर्शन नहीं है। स्वप्न में जैसे हम, और सबको देखते हैं और वे हमें देखते हैं, वैसे ही जाग्रत् में जीव, जगत् और ईश्वरादि को हम देखते हैं और वे हमें देखते हैं। वस्तुतः मैं ही सबका रूप धारण करता है। मैं ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता, घटपटादि प्रपंच की व्यावहारिक सत्ता और रज्जुसर्पादि की प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार करता है। सब कुछ देखा जाता है किन्तु असल में है नहीं, अधिष्ठान ज्ञाननाश्य मिथ्या अविद्यावश में स्वरूप एक नित्य, स्थिर ज्ञान स्वरूप वस्तु में दृश्य का दर्शन होता है इसलिये बौद्ध का क्षणिक विज्ञानवाद, शून्यवाद अथवा साँख्यादि का अनीश्वर-वाद यह नहीं है। योगवाशिष्ठ, गौड़पादीय आगम, वृहदारण्यक भाष्य, वार्त्तिक, वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, अद्वैतसिद्धि प्रभृति ग्रन्थों में दृष्टि-सृष्टिवाद सविस्तृत रूप से वर्णित है। इस मत में एक मात्र चैतन्य ही स्वीकृत है और वह नित्यमुक्त है। अविद्या के कारण अद्वितीय चैतन्य में नाना प्रकार के विवर्त्त होते हैं, परन्तु उससे आत्मस्वरूप की बिन्दुमात्र भी हानि नहीं होती। आत्मा सर्वदा असंग और एक रस ही है। अविद्या और उसके परिणाम के साथ चैतन्य का किसी भी काल में सम्बन्ध नहीं है। इसलिये बन्ध, वेद, गुरु, श्रवणादि, समाधि और मोक्ष की प्रतीति भी स्वप्नवत् अविद्याजन्य है, सुतरां वे सभी मिथ्या हैं। इनकी दीर्घकाल स्थायित्व रूप प्रतीति भी अविद्याजन्य होती है। आत्मा में बन्ध का अभाव नित्य रहने से आज तक न कोई मुक्त हुआ और न भविष्य में होगा ही, परन्तु चैतन्य सदा मुक्त ही रहता है।

८

वेदान्तोक्त सृष्टिक्रम

श्रुति से ज्ञात होता है कि जगत् की अवस्था तीन प्रकार की है— कारणावस्था, सूक्ष्मावस्था और स्थूलावस्था। इनमें कारणावस्था में कुछ भी अभिव्यक्त नहीं रहता। सभी प्रसुप्त सा रहता है। बीज के भीतर जैसे वृक्ष अव्याकृत (अनभिव्यक्त) रहता है, वैसे ही नाम रूप में अभिव्यक्त होने के पूर्व जगत् भी सर्वकारण माया के भीतर लीन रहता है। श्रुति कहती है "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" (बृहदा० उप० १।४।७) अर्थात् उस समय यह जगत् अव्याकृत था। यह जगत् की अव्याकृतावस्था या कारणावस्था है। अज्ञान, अविद्या या त्रिगुणात्मिका माया ही उस अवस्था में सब कुछ ढंक कर अपने भीतर समस्त स्त्रक्ष्यमाण जगत् के संस्कार अर्थात् भावी स्वरूप के परमसूक्ष्म भाव को लेकर विराजती है। बाद में जीवों के कर्मवश सूक्ष्म सृष्टि आरम्भ होती है। तब परमेश्वराधिष्ठित त्रिगुणात्मक माया के परिणाम से अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम ही अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत हैं। इन्हें ही पञ्चतन्मात्रा भी कहते हैं। इनकी उत्पत्ति त्रिगुणात्मक माया से हुई है अतः ये भी त्रिगुणात्मक हैं। उन अपञ्चीकृत महाभूतों के प्रत्येक के सात्त्विक अंश से पञ्चज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं अर्थात् अपञ्चीकृत आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्र, वायु के सात्त्विक अंश से त्वक्, तेज के सात्त्विक अंश से चक्षु, जल के सात्त्विक अंश से जिह्वा और पृथ्वी के सात्त्विक अंश से नासिका ये पांच ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। इन अपञ्चीकृत महाभूतों के मिलित सात्त्विक अंशों से मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त, ये चार अन्तःकरण होते हैं। फिर अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के प्रत्येक के राजस अंश से यथाक्रम वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु इन

पांच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है अर्थात् अपञ्चीकृत आकाश के राजस अंश से वागिन्द्रिय, वायु के राजस अंश से दोनों हाथ, तेज के राजस अंश से दोनों चरण, जल के राजस अंश से उपस्थ, मूत्रेन्द्रिय और पृथ्वी के राजस अंश से पायु (गुदा) उत्पन्न होते हैं। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि ये सब इन्द्रिय बहिर्दृश्यमान हस्तपादादि नहीं अपितु स्थूल हस्तपादादि की सूक्ष्म अवस्थायें हैं। उन अपञ्चीकृत पञ्च-महाभूतों के मिलित राजस अंशों से प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान-इन पांच प्राणवायुओं की सृष्टि होती है। यह सूक्ष्म सृष्टि है। आगे उन अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के तामस अंशों से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत अर्थात् साधारणतः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूप स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। अपञ्चीकृत महाभूत और पञ्चीकृत महाभूतों में भेद यह है कि पञ्चीकृत स्थूल भूतों के प्रत्येक भूत में अन्यान्य चार भूतों के प्रत्येक का आठवां अंश विद्यमान रहता है, किन्तु अपञ्चीकृत भूत वैसे नहीं होते वे तत्-स्वरूप ही होते हैं—उनमें प्रत्येक में अन्य किसी का भी संमिश्रण नहीं रहता। अतएव पञ्चीकृत पृथ्वी में पृथ्वी का अंश आधा है, और जल, तेज, वायु तथा आकाश के अष्टमांश हैं। इस प्रकार स्थूल पञ्चीकृत जल में जल का अंश आधा है और शेष चारों के अष्टमांश हैं। तेज वायु और आकाश के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहियें। इन पञ्चीकृत स्थूल भूतों से ही चौदह भुवन और स्वेदज, उद्भिज, अण्डज, जरायुज यह चार प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं, यह स्थूल सृष्टि कही जाती है। यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् ही विराट् सूत्र तथा अव्याकृत समष्टि शरीर कहा गया है।

प्रत्येक जीव के भी स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर रहते हैं। जाग्रत् काल में स्थूल शरीर लेकर व्यवहार होता है। स्वप्नदशा में पञ्चप्राण, दश इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि इस सप्तदशावयव सूक्ष्म शरीर से व्यवहार होता है, यही लिङ्ग शरीर कहा जाता है। सुषुप्ति काल में इन सबकी परमसूक्ष्मावस्था अविद्या से व्यवहार होता है—यही जीव का कारण

शरीर है। अविद्या रूप कारण शरीर से जीव आनन्द समुद्र में डूबा रहता है-ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है। कोष (म्यान) जिस प्रकार खड्गादि को ढंक रखता है उसी प्रकार शरीर भी जीव को ढंक रखता है। अतएव सुषुप्तिकाल में जीव ब्रह्म में लीन होने पर भी अपना स्वातन्त्र्य नहीं खोता पुनः स्व-स्वभाव लेकर जाग्रत् होता है। वह सुषुप्ति कालीन कारण शरीर ही 'आनन्दमयकोष' कहा जाता है। जीव के सूक्ष्म शरीर के समान जगत् की सूक्ष्मावस्था का भी लय होने पर निखिल जगत् का कारण माया अवशिष्ट रह जाती है। वह माया शुद्ध सत्वस्वरूपा है, इसलिये इसमें ब्रह्मचैतन्य और ब्रह्मानन्द का प्रतिफलन होता है। इसकी भी अभिमानिनी देवता है इसलिये यह उसका शरीर है। ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी यह माया ही उसे भिन्न सा प्रतीत कराती है। इसके भीतर आनन्द का ही प्राचुर्य अधिक रहता है। इन सब कारणों से जगत् की कारणीभूत अव्याकृत अव्यक्तावस्था भी 'आनन्दमयकोष' कही जाती है। ये तीनों शरीर ही आध्यात्मिक क्षुद्र जगत्, क्षुद्र ब्रह्माण्ड और व्यष्टि शरीर है। अतः जिस प्रकार व्यष्टिभाव से क्षुद्र शरीर तीन प्रकार का है उसी प्रकार समष्टि शरीर भी तीन प्रकार का है। इसलिये कहा गया है। "पिण्ड ब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्ग सूत्रात्मनो रपि। स्वापाव्याकृतयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः" ॥ अर्थात् इस देहात्मक पिण्ड और ब्रह्माण्ड, लिङ्गशरीर और सूत्रात्मक सूक्ष्म जगत् सुषुप्त्युपलक्षित कारण शरीर और जगत् की अव्याकृत अवस्था तथा जीव और परमात्मा का ऐक्य अर्थात् अभिन्नता है इनका भेद नहीं है।

इन दो प्रकार के त्रिविध शरीरों में ही आत्मा रहता है। व्यष्टि शरीर में देखा जाता है कि स्थूल शरीर में चैतन्य का एक प्रकार का व्यवहार होता है तो सूक्ष्म शरीर में दूसरे प्रकार का व्यवहार होता है और कारण शरीर में तीसरे प्रकार का व्यवहार होता है। स्थूल शरीर में जिस चैतन्य का व्यवहार होता है, वह 'विश्व' सूक्ष्म शरीर में जिसका व्यवहार होता है वह 'तैजस' और कारण शरीर में

जिस का व्यवहार होता है, वह 'प्राज्ञ' कहा जाता है। परन्तु इन त्रिविध शरीरों का व्यवहार भिन्न-भिन्न होने पर भी इन में चैतन्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं —एक ही चैतन्य उस—उस अवस्था में भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होता है। समष्टि शरीर में भं पञ्चीकृत स्थूल विराट् जगत् रूप शरीर का अधिष्ठाता एक ही चैतन्य है-वह' 'वैश्वानर, या'विराट्'कहा जाता है। अपञ्चीकृत महाभूत और उनके कार्यस्वरूप सूक्ष्म जगत् रूप शरीर का भी एक अधिष्ठाता चैतन्य है जो 'सूत्रात्मक 'हिरण्यगर्भ, अथवा 'प्राण, कहा जाता है। अव्याकृत कारण जगत् रूप शरीर का भी एक अधिष्ठाता चैतन्य है जो 'अन्तर्यामी, या 'परमेश्वर, कहा जाता है। इन त्रिविध जगत् रूप शरीरों का अभिमानी चैतन्य अभिन्न होने पर भी अवस्था के भेद से उसका भी भेद स्वीकार किया जाता है। सुतरां व्यष्टिभाव से विश्व, तैजस और प्राज्ञ तथा समष्टि भाव से वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर एक ही चैतन्य की विभिन्न अभिव्यक्ति है। इन सब के मूल में निर्विशेष, अखण्ड, सच्चिदानन्द तुरीय, शुद्ध, चैतन्य ब्रह्म सब के अधिष्ठान रूप से विराजमान है। इसलिये श्रुति कहती है— "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"।

व्यष्टि शरीर में चैतन्य की स्वतन्त्रता दिखलाने के लिये तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, मनोमय, प्राणमय,विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पांच कोषों की कल्पना की गई है। उन में स्थूल शरीर अन्नमय-कोषात्मक है, सूक्ष्म शरीर मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय-कोषात्मक है तथा कारण शरीर आनन्दमय कोषात्मक है, इस प्रकार स्थूल जगत् को अन्नमय कोषात्मक, सूक्ष्म जगत् को मनोमय, प्राणमय तथा विज्ञानमय-कोषात्मक तथा लिङ्ग शरीर एवं अव्याकृत जगत् को अनान्दमय-कोषात्मक कारण शरीर कहा गया है। उनमें स्थूल शरीर ही अन्नमय-कोष है। सूक्ष्म शरीर के कोषत्रय में पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा पंच प्राणवायुओं से प्राणमय कोष बनता है। यह प्राणमय कोष क्रिया शक्ति का आधार कार्य स्वरूप है, इस के प्रभाव से निष्क्रिय आत्मा अपने में बचन, आदान, गमन तथा

क्षुधापिपासादि क्रियाओं का आरोप करता है। पंचज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि मिलकर बिज्ञानमय कोष है। यह विज्ञान मय कोष ज्ञान शक्ति मान कर्त्ता कहा जाता है, क्योंकि इसके प्रभाव से ही अकर्ता आत्मा में कर्तृत्व आरोपित होता है। अज्ञान प्रधान अन्तःकरण आनन्दमयकोष कहा जाता है, इसी के कारण आत्मा अखण्डानन्द निः संग शुद्ध, चित्-स्वरूप होने पर भी परिच्छिन्न सुखविशिष्ट, अल्पज्ञान विशिष्ट, भोक्तृत्वादि संग विशिष्टरूप से प्रतीत होता है। यह व्यष्टि जीव के पंच कोषों का विवेक है। समष्टि जगत् का भी स्थूल ब्रह्माण्डात्मक विराट् शरीराभिमानी वैश्वानर अन्नमयकोषाधिष्ठाता कहा जाता है। सूक्ष्म जगत् का अभिमानी सूत्रात्मा ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति तथा क्रिया-शक्तिमान् कहा जाता है और कारणजगदभिमानी अन्तर्यामी सर्वज्ञ, सर्व वित् सर्वकर्ता, फलदाता, सर्वेश्वर कहा जाता है। सुतरां आत्मा असंग उदासीन होने पर भी अध्यासवश समष्टि व्यष्टिभावों से इस प्रकार त्रिविध शरीर विशिष्ट प्रतीत होता है। परन्तु आत्मा परमार्थतः भिन्न-भिन्न नहीं है। जब तक अविद्या रहती है, अध्यास रहता है, तब तक इस प्रकार के विभाग और विभेद भी रहते हैं।

श्रुति में इन शरीरों को एक ही आत्मा का शरीर कहा गया है। जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् (२।३) में कहा गया है "तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य" अर्थात् जो पूर्वोक्त अन्नमय का शरीराधिष्ठित आत्मा है, वही प्राणमय का भी आत्मा है। प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय के लिये भी इस श्रुति का यही अर्थ है। श्रुति का अभि-प्राय यह है कि जो आनन्दमय का अधिष्ठाता है, वही विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय का अधिष्ठाता और अन्नमय का भी अधिष्ठाता है। "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस श्रुति से जाना जाता है कि ब्रह्म इन सब का अधिष्ठाता है। वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। गीता, में भी कहा गया है—"अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य" (२।१८) अर्थात् ये सब देह ही

त्रैलोक्य मध्यवर्त्ती समस्त प्राणी के साथ सम्बन्धविशिष्ट जो एक आत्मा है, उस के देह कहे गये हैं। "एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापीसर्व भूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेताश्वतर उप० ६।१।१) अर्थात् एक (अद्वितीय) देव (प्रकाशात्मा) सर्व प्राणियों में छिपा हुआ है, वह सर्वव्यापी तथा निखिल प्राणियों का अन्तरात्मा है, वह धर्माधर्मात्मक समस्त कर्मों का अधिष्ठाता और सबका हृदय वासी है, वह साक्षी (सर्व द्रष्टा) चेतयिता, केवल (निरुपाधिक) तथा निर्गुण है। इस श्रुति से भी यह ज्ञात हो रहा है, कि आत्मा एक है और वह समस्त शरीरों के साथ सम्बन्ध विशिष्ट तथा नित्य और विभु है। आत्मा त्रिविधपरिच्छेदशून्य तथा अकल्पित होने के कारण उसके विनाश का कोई हेतु नहीं है, इस लिये वह नित्य है। आत्मा को जो नित्यता है, वह मुख्य कूटस्थ नित्यता है। सांख्य कल्पित प्रकृति की नित्यता के समान परिणाम नित्यता नहीं है अथवा आकाश के समान यावत् काल स्थायित्व रूप औपचारिक नित्यता अर्थात् प्रवाहनित्यता नहीं है।

अध्यस्त पदार्थ की स्वतन्त्रसत्ता-और प्रकाशन रहने से वह अपने अधिष्ठान के साथ एकीभूत होकर ही सत् और प्रकाशशील प्रतीत होता है। अधिष्ठान की सत्ता ही अध्यस्त वस्तु की सत्ता है और अधिष्ठान का प्रकाश ही अध्यस्त वस्तु का प्रकाश है। अध्यस्त होने के कारण इस जगत् की स्वतन्त्र सत्ता और प्रकाश नहीं है। सत् स्वरूप ब्रह्म की सत्ता से ही जगत् की सत्ता है और उस के प्रकाश से ही जगत् का प्रकाश है अर्थात् मायाकल्पित इस प्रपंच का अधिष्ठान स्वरूप चिद्-वस्तु सत् होने से ही उस सत् में अध्यस्त जगत् सत् रूप से भासता है और जगत् का स्फुरण या प्रकाश न रहने पर भी चिद्वस्तु के प्रकाश से जगत् प्रकाशमान होता है।

निखिलदृश्य भ्रम होने पर भी उस भ्रम का अधिष्ठान स्वरूप एक सत् पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है, क्योंकि आरोपित पदार्थ की

कोई स्वतन्त्र सत्ता और प्रकाश नहीं रहता, अधिष्ठान की सत्ता ही आरोपित की सत्ता है और अधिष्ठान का प्रकाश ही आरोपित का प्रकाश है। इसलिये भ्रम का अधिष्ठान स्वरूप पदार्थ शून्य नहीं हो सकता क्योंकि शून्य अलीक पदार्थ है और अलीक पदार्थ किसी का भी अधिष्ठान नहीं बन सकता, क्योंकि अलीक वस्तु की सत्ता ही नहीं है, प्रकाश रहना तो दूर की बात है। फिर भ्रम का बाध होने पर वह भ्रम किसी स्थान में अवश्य ही रहता है, अर्थात् समस्त पदार्थों के बाधित होने पर भी एक ऐसी वस्तु की सत्ता अवश्य ही कल्पित करनी पड़ती है, जो कभी बाधित नहीं हो सकती। वह शून्य नहीं हो सकता, क्योंकि शून्य अलीक है और ऐसा होने पर उस बाध का कोई साक्षी वा द्रष्टा न रह जाने से निःसाक्षिक बाध असिद्ध हो जाता है। इसलिये श्रुति कहती है—"पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः" (कठोपनिषद् ३।११) अर्थात् पुरुष से पर और कुछ रह नहीं सकता, वह पुरुष ही सब की शेष सीमा है और वही गति है। यह श्रुति भी पुरुष को निखिल बाध की अवधि (सीमा और साक्षी) कह कर परिशिष्ट करती है अर्थात् समस्त दृश्य वस्तुओं के बाधित होने पर पुरुष ही केवल अबाधित अवशिष्ट रह जाता है। भाष्यकार भगवान् श्री शङ्कराचार्यजी ने भी कहा है—"सर्वं विनश्यद् वस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति, पुरुषो विनाश हेत्वभावान्न विनश्यति" अर्थात् विनश्वर वस्तु समूह पुरुष को शेष रखकर विनष्ट होती हैं, परन्तु पुरुष विनष्ट नहीं होता क्योंकि उस के विनाश का कोई हेतु नहीं है। इस सत् का कोई भी द्रष्टा नहीं है, यह दृश्य भी नहीं है। सभी दृश्य वस्तु जड़ हैं। परमार्थसत् दृशि-स्वरूप, ज्ञान स्वरूप है। यह ज्ञान से भिन्न नहीं है इस का कोई ज्ञाता नहीं है। यहज्ञेय भी नहीं है। यही शुद्ध चित् और स्फुरण रूप है। यह एक सम्पूर्णपदार्थों में ओत प्रोत भाव से सर्वदा विराजमान, स्वयम्प्रकाश, स्फुरणरूप सत् पदार्थ सर्वपरिच्छेदशून्य होने से इसका अभाव नहीं हो सकता—"नाभावो विद्यते सतः"।

सृष्टि को सृष्टि रूप से जान लेने पर कुछ भी लाभ नहीं होता, अधिकन्तु अनन्त भेदों के ज्ञान से विक्षेप के घर में पड़े ही रहना होता है। मुमुक्षु इस अनन्त वैचित्र्यमय सृष्टि को अपने स्वरूप अद्वैत तत्व से भिन्न देखकर अपने स्वरूप ज्ञान से वंचित रह कर उस से दूर न पड़ा रहे इस सृष्टि को अपना स्वरूप अद्वैत तत्व का ही विस्तार, विलास या विभूति जान कर भेद जाल से बचकर कृतकृत्य हो सके, इस लिये मृत्तिका और मृण्मय द्रव्य, स्वर्ण और स्वर्णालङ्कार, समुद्र और तरङ्ग, फेन, बुद् बुद तथा अग्नि और स्फुलिङ्ग प्रभृति दृष्टान्तों द्वारा उपनिषदों में सृष्टितत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस से निखिल प्रपंच के अध्यारोपनिर्देशपूर्वक ब्रह्म का ही अनादिसत्व तथा परमतत्वत्व व्याख्यात होता है अर्थात् जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन पूर्वक एक अद्वितीय सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद शून्य, निष्प्रपंच, निर्विशेष ब्रह्म तत्व का प्रतिपादन किया गया है। इसलिये कहा गया है–" "अध्यारोपा पवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपञ्च्यते।" "सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। असक्तंसर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच॥" "ब्रह्मै वेदममृतंपुरस्ताद् ब्रह्मपश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोद्र्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥" "पुरुष एवेदं विश्वम्"॥

(६)

रज्जु-सर्प भ्रम

जिस प्रकार रज्जु में सर्पभ्रमस्थल में सर्प अविद्या का परिणाम है, उसी प्रकार उस सर्प की ज्ञान रूप वृत्ति भी अविद्या का ही परिणाम है। वह सर्प ज्ञान अन्तःकरण का परिणाम नहीं है क्योंकि जैसे रज्जुज्ञान द्वारा सर्प बाधित होता है, वैसे सर्पज्ञान भी बाधित होता है। यदि वह सर्पज्ञान अन्तःकरण की वृत्तिरूप व्यावहारिक ज्ञान होता, तो वह रज्जु-ज्ञान द्वारा बाधित न होता। अन्तःकरण की वृत्ति रूप सर्पज्ञान व्यावहारिक होने से वह एक मात्र ब्रह्मज्ञान द्वारा ही बाधित होता है, इसलिए वह सर्पभ्रम भी सर्प के समान अविद्या की ही वृत्ति अर्थात् कार्य है और वह सत् तथा असत् से विलक्षण होने से अनिर्वचनीय या मिथ्या कहा जाता है। किन्तु रज्जु-उपहित चैतन्य में स्थित अर्थात् अन्तःकरण - उपहित चैतन्य में स्थित अविद्या के सत्वगुण का परिणाम अविद्या की वृत्तिरूप सर्पज्ञान होता है। वह प्रातिभासिक कहा जाता है। अन्तःकरण का परिणाम व्यावहारिक कहा जाता है।

वेदान्त मत में एक ही चैतन्य में समस्त दृश्य वस्तुयें, जैसे कि कर्ता, कर्म, करण प्रभृति, सभी अधिष्ठित या अध्यस्त होने से वह एक ही चैतन्य उपाधिवश चार प्रकार का कहा जाता है। यथा प्रमिति चैतन्य या प्रमाचैतन्य, प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य, और प्रमेयचैतन्य या विषयचैतन्य। प्रमाचैतन्य का नाम है और वह नित्य है अतः वह इन्द्रिय जन्य नहीं हो सकती। इसीलियें इन्द्रियां उसका कारण भी नहीं हैं। तथापि चैतन्य में प्रमा - शब्द - व्यवहार की जनक अन्तःकरणवृत्ति

(जो प्रमाज्ञान का कारण अर्थात् असाधरण कारण है) भी प्रमा कही जाती है। उस वृत्तिकी करण होने से इन्द्रियों कोभी करण कहते हैं अर्थात् स्थूल रूप से इन्द्रिय समूह को ही करण कहा जाता है। इन्द्रिय का ही दूसरा नाम 'प्रमिति चैतन्य' या 'प्रमाचैतन्य' है। देह मध्यस्थित अन्तःकरणावच्छिन्न अर्थात् अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य 'प्रमातृचैतन्य' या 'प्रमाता' कहा जाता है। देहमध्यस्थित अन्तःकरण चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा बहिर्गत होकर घटादि विषयों के समीप जाकर उन घटादि के साथ मिल कर घटादि का आकार धारण करता है। देह से घटादि विषय पर्यन्त अन्तः करण का किसी आकार में परिणाम ही 'वृत्ति' कही जाती है। उस वृत्ति द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य' 'प्रमाण चैतन्य' या 'वृत्तिज्ञान' कहा जाता है। ज्ञान के विषय घटादि से अविच्छिन्न अर्थात् विशिष्ट चैतन्य 'प्रमेय चैतन्य' या 'विषय चैतन्य' कहा जाता है। इस प्रकार एक ही चैतन्य उपाधिवश प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति नामों से अभिहित होता है।

वेदान्त मत में चार प्रकार के चैतन्य माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—प्रमातृ चैतन्य, प्रमाण चैतन्य, प्रमेय चैतन्य और प्रमिति चैतन्य। अवच्छेद वादी के मतानुसार अन्तः करण विशिष्ट चैतन्य प्रमातृ चैतन्य है। इन्द्रियों से लेकर विषय पर्यन्त अन्तः करण वृत्ति विशिष्ट चैतन्य प्रमाण चैतन्य कहा जाता है। घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य अज्ञात होने पर प्रमेय चैतन्य या विषय चैतन्य कहा जाता है और ज्ञात होने पर वही प्रमिति चैतन्य, प्रमा चैतन्य या फल चैतन्य कहा जाता है। आभासवादी के मतानुसार चिदाभास के साथ देह में स्थित अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य प्रमातृ चैतन्य कहा जाता है। देह के बाहर साभास अन्तः करण विशिष्ट चैतन्य प्रमाण चैतन्य कहा जाता है। घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमेय चैतन्य या विषय चैतन्य कहा जाता है और वृत्ति से सम्बन्ध होने पर घटादि विषय में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब या आभास उत्पन्न होता है वह प्रमिति चैतन्य या फल चैतन्य कहा जाता है। घटादि से अवच्छिन्न

ब्रह्म चैतन्य फल नहीं है। इस प्रकार एक ही चैतन्य उपाधि भेद के कारण प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति नामों से कहा जाता है।

जिस समय रज्जु-उपहित चैतन्य में अवस्थित अविद्या के तमोगुणांश में सर्पाकार परिणाम होता है, उसी समय साक्षी चैतन्य (अन्तः करण-उपहित चैतन्य-अन्तः करण उपाधियुक्त चैतन्य) में आश्रित अविद्या के सत्त्वगुणांश से ज्ञानाकार परिणाम होता है, उसी निमित्त से साक्षी – चैतन्याश्रित अविद्या का क्षोभ उत्पन्न होता है क्यों कि चैतन्य स्वरूपतः सर्वत्र एक ही है। साक्षी चैतन्य और विषय चैतन्य स्वरूपतः अभिन्न हैं। इसलिये भ्रम स्थल में सर्पादि रूप भ्रम का विषय और उसका ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं और रज्जु प्रभृति अथवा अधिष्ठान का ज्ञान होते ही भ्रम ज्ञान और उसका विषय सर्प दोनों एक साथ लय को प्राप्त हो जाते हैं। इस रीति से सर्पादि भ्रम में अविद्या रूप का बाह्य अंश ही सर्पादि विषय का उपादान कारण होता है और साक्षि चैतन्याश्रित अविद्या का आन्तर अंश ही उस के ज्ञान रूप वृत्ति का उपादान कारण होता है। वस्तुतः स्वप्न और भ्रम भिन्न काल में भी अविद्या ही जगत् प्रपञ्च का उपादान कारण होती है, परन्तु भ्रम काल में अविद्या साक्षात् रूप से कारण होती है, तदितर काल में भूत सृष्टि पूर्वक कारण होती है इतनी ही विशेषता है।

रज्जुआदि में अनिर्वचनीय सर्पादि और उसका ज्ञान-इन दोनों को ही भ्रम या अध्यास कहा जाता है। वह भ्रम अविद्या का परिणाम और चेतन का विवर्त्त रूप है। उपादान कारण अविद्या अनिर्बचनीय है। इस लिये रज्जु में सर्प और उस का ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। सुतरां रज्जु-सर्प और उसका ज्ञान अविद्या के तुल्य स्वभावसम्पन्न 'अन्यथा स्वरूप, हुये अर्थात् वे अविद्या से भिन्नाकार के आकार से सम्पन्न हुये। अतएव वे अविद्या के परिणाम कहे गये हैं। रज्जु-अवच्छिन्न अधिष्ठान चैतन्य सदरूप है, परन्तु सर्प और उसका ज्ञान सत् से बिलक्षण है सुतरां रज्जु-सर्प और उसका ज्ञान अधिष्ठान चैतन्य से विपरीतसर्प भाव सम्पन्न हुये

अर्थात् चैतन्य से भिन्न प्रकार के आकार विशिष्ट हुये। अतएव वे चेतन्न के विवर्तस्वरूप कहे जाते हैं।

रज्जु-उपहित चेतन ही मिथ्यासर्प का अधिष्ठान होता है, रज्जु नहीं, क्योंकि सर्प के समान रज्जु भी कल्पित है। एक कल्पित वस्तु दूसरी कल्पित वस्तु का अधिष्ठान नहीं बन सकती, इस लिये रज्जु-उपहित चेतन ही अधिष्ठान होता है, रज्जु नहीं। उसी प्रकार साक्षी चैतन्य भी सर्प ज्ञान का अधिष्ठान होता है। इस रीति से भ्रम स्थल का विषय और उस विषय का ज्ञान इन दोनों का उपाधि में भेद रहने के कारण उनका अधिष्ठान एक नहीं, भिन्न-भिन्न होता है और रज्जु की विशेष रूप से अप्रतीति अविद्या में क्षोभ उत्पन्न करके सर्प और सर्पज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त कारण होती है। उसी प्रकार रज्जु का रज्जु रूप में ज्ञान भी सर्प तथा सर्पज्ञान की निवृत्ति में निमित्त कारण होता है।

रज्जु आदि जड़ पदार्थ का ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति रूप होता है। उस स्थल में आवरण भङ्ग करना ही वृत्ति का प्रयोजन होता है। वह आवरण अज्ञान की शक्ति मात्र है। अज्ञान ज्ञान के ही आश्रय में रहता है, क्योंकि "मैं नहीं जानता" यह भाव ही अज्ञान है। इसलिये आवरण शक्ति रज्जु प्रभृति जड़ में आश्रित नहीं, परन्तु जड़ के अधिष्ठानभूत चेतन के ही आश्रित रहती है। इस कारण रज्जु समानाकार अन्तः करण की वृत्ति के द्वारा रज्जु-अवच्छिन्न चैतन्य का ही आवरणभङ्ग होता है। अन्तःकरण-वृत्ति में रहने वाले चिदाभास से रज्जु का प्रकाश होता है। चेतन स्वयं प्रकाश होने से उसके प्रकाश में उस आभास की कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती अर्थात् चिदाभास चेतन का वैसे ही प्रकाश नहीं कर सकता, जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य का प्रकाश नहीं कर पाता। चिदाभास सहित अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञान में जो वृत्ति अंश है, उस का फल भूत आवरणभङ्ग चेतन में होता है और चिदाभासांश का प्रकाश रूप फल रज्जु में होता है। अतएव वृत्तिज्ञान का विषय केवल जड़ रज्जु नहीं, किन्तु अधिष्ठान चैतन्य के साथ रज्जु ही चिदाभास सहित वृत्ति का विषय है।

इस प्रकार रज्जु ज्ञान द्वारा निरावरण अर्थात् आवरणभङ्ग होने पर सर्प के अधिष्ठान रज्जु अवच्छिन्न चैतन्य का भी अपने प्रकाश द्वारा भान होता है और उसी से सर्पनिवृत्ति होती है।

ज्ञान विषय के अधीन होता है। विषयभूत सर्प की निवृत्ति होने के साथ ही सर्पज्ञान भी विषय न रहने के कारण स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। सर्पज्ञान के विषयभूत सर्प का अभाव सर्प ज्ञान के लय में निमित्त होता है। इस रीति से सर्प की निवृत्ति रज्जुज्ञान द्वारा होती है, और सर्पज्ञान के विषय सर्प के अभाव में सर्पज्ञान का लय हो जाता है। अथवा सर्प और उसका ज्ञान, इन दोनों की निवृत्ति रज्जुज्ञान द्वारा होती है, क्योंकि जिस समय रज्जु का प्रत्यक्षज्ञान होता है उस समय अन्तः-करण वृत्ति नेत्र मार्ग से निर्गत होकर रज्जुदेश में पहुंचती है और वह वृत्ति रज्जु के सदृश आकार धारण कर लेती है, इस लिये रज्जु के प्रत्यक्ष काल में वृत्ति उपहित चेतन और रज्जु उपहित चेतन दोनों एक अभिन्न हो जाते हैं, उन में भेद नहीं रह जाता क्योंकि उपाधि के भेद से ही चैतन्य में भेद प्रतीत होता है। यहां वृत्ति-उपहित चेतन और रज्जु उपहित चेतन की भेदक अर्थात् भेद प्रतीति की जनक उपाधि 'वृत्ति' और 'रज्जु' है। वह वृत्ति और रज्जु जब भिन्न-भिन्न देश में रहते हैं, तभी उपाधियुक्त चेतनका भेद प्रतीत होता है और जब दोनों उपाधियां एक ही देश में रहती हैं तब उन उपाधियों से उपहित चेतन का भेद प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार रज्जु के प्रत्यक्षज्ञान में रज्जु-उपहित चैतन्य और वृत्ति-उपहित चैतन्य एक ही हैं। वहां साक्षी चेतन ही वृत्ति-उपहित चेतन है, क्योंकि अन्तःकरण और अन्तःकरण-वृत्ति में स्थित उस वृत्ति का प्रकाशक चेतन ही 'साक्षी' कहा जाता है। इस प्रकार रज्जुज्ञान काल में साक्षी-चेतन औररज्जु-उपहित चेतन का अभेद हो जाता है और रज्जुज्ञान द्वारा रज्जु-उपहित चेतन का भान होता है एवं रज्जु-उपहित चेतन से अभिन्नसाक्षी का भी रज्जुज्ञान द्वारा भान होता है। इस प्रकार रज्जु ज्ञान कालमें अधिष्ठान-भूत साक्षी का भान होने से कल्पित सर्पज्ञान की निवृत्ति होती है।

१०

ख्याति-पंचक

भ्रम के सम्बन्ध में पांच प्रकार के सिद्धान्त देखे जाते हैं, जैसे-असत् ख्याति, आत्म ख्याति, अन्यथा ख्याति, अख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति। शून्यवादी असत् ख्याति मानते हैं, क्षणिक विज्ञान वादी आत्मख्याति, नैयायिक, वैशेषिक और सांख्य अन्यथा ख्याति, प्राभाकर (मीमांसक) अख्याति और वेदान्ती अनिर्वचनीय ख्याति मानते हैं। इस प्रकार पांच ख्यातियाँ प्रसिद्ध हैं—"आत्मख्यातितिरसत् ख्याति-रख्यातिःख्यातिरन्यथा। तथा अनिर्वाच्यता ख्यातितिरित्येतत् ख्याति पञ्चकम्॥" इन में शून्यवादी का अभिप्राय यह है कि जैसे रज्जु में सर्प अत्यन्त असत् है, वैसे ही अन्य देश में भी सर्प अत्यन्त असत् है। इस प्रकार अत्यन्त असत् सर्प की ही रज्जु देश में प्रतीति होती है। इसे असत् ख्याति कहते हैं। इस मत में दृष्ट पदार्थमात्र असत् हैं अर्थात् वह हैं ही नहीं और जो नहीं हैं अर्थात् असत् हैं वही देखा जाता है। सुतरां सब शून्य है, कुछ भी नहीं है। जो जगत् देखा जाता है, वह स्वप्नवत् अलीक या भ्रमधारा मात्र है—वह भी कुछ नहीं है। यह भ्रमधारा अनादि मानी जाती है। निरन्तर दीर्घकाल तक शून्य का ध्यान करते रहने पर इस अनादि भ्रमधारा का उच्छेद हो जाता है और तभी निर्वाण होता है। अत्यन्त असत् सर्प की जो ख्याति अर्थात् मान या ज्ञान और कथन होता है, वही असत् ख्याति है। परन्तु जो बिल्कुल ही नहीं है उस की किसी प्रकार से प्रतीति होने की सम्भावना कहाँ? सम्भावना मानने पर निरधिष्ठान भ्रम स्वीकार करना पड़ेगा। रज्जु आदि किसी अधिष्ठान के न रहने पर किस के ऊपर सर्प की प्रतीति होगी? रज्जु में सर्प नहीं है और रज्जु भी नहीं है—इस स्थल में सर्पभ्रम कैसे सम्भव हो सकता है? इस मत से

रज्जु भी असत् है, सर्प भी असत् है, सुतरां रज्जु में सर्प भ्रम होना असम्भव है। यदि असत् वस्तु की प्रतीति होना स्वीकार किया जाय, तब तो वन्ध्या पुत्र या शश शृङ्ग की भी प्रतीति होनी उचित है, पर वह नहीं होती। सुतरां शून्य वादी की असत् ख्याति युक्ति विरुद्ध है। सर्पज्ञान को अनादिभ्रम परम्परा मानने पर असत् रज्जु में सर्पज्ञान नहीं हो सकता। उस स्थिति में सर्पज्ञान एक स्वतन्त्र ज्ञान हो जाता है और असत् ख्यातिवाद विज्ञानवाद में प्रवेश कर जाता है।

क्षणिक विज्ञानवादी का अभिप्राय यह है कि रज्जु में या अन्यत्र कहीं भी बुद्धि के बाहर अथवा बुद्धि से अतिरिक्त सर्प नहीं है—कोई भी पदार्थ बुद्धि से भिन्न नहीं है अर्थात् ज्ञानातिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है, समस्त पदार्थ ज्ञान के ही आकार विशेष मात्र हैं, बुद्धि ही समस्त पदार्थों का आकार धारण का लेती है। वह बुद्धि ही क्षणिक विज्ञान-रूप है और एक क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो जाती है—वही बाहर के समस्त विषयाकारों में प्रतीत होती है। यही आत्म-ख्याति है। यहां 'आत्मा' का अर्थ क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि है। उसकी जो सर्परूप से ख्याति या भान या कथन है, वही आत्मख्याति शब्द का अर्थ है। आन्तर और बाह्य रूप से बोध ही इस मत में भ्रम है। इस मत में विषयाकार विज्ञान धारा रहित होकर जब निराकार विज्ञान धारा बहन लगती है तभी निर्वाण होता है। परन्तु यदि सर्पादि वस्तु को, जो भ्रमकाल में दृष्ट होती है, क्षणिक विज्ञान का ही आकार विशेष स्वीकार किया जाता है, तो सर्पादि क्षणिक विज्ञान होने से उसका आकार भी क्षणिक होना युक्त है और उसकी प्रतीति भी क्षणकाल के लिए ही होनी चाहिए। उस क्षणिक विज्ञान का आकार विशेष रूप सर्प अधिक काल स्थिर वस्तु रूप से प्रतीत होना उचित नहीं। सुतरां विज्ञानवादी बौद्ध विशेष का आत्मख्यातिवाद असङ्गत मतवाद है।

न्याय, वैशेषिक और सांख्य का अभिप्राय यह है कि बल्मीक प्रभृति में सत्य सर्प रहता है, वह चक्षु द्वारा दृष्ट हुआ और नेत्र में दोष है,

जिसके फलस्वरूप वह बल्मीकस्थित सर्प ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के कारण सम्मुख प्रतीत होता है। सर्पस्मृति सन्निकर्ष होकर सर्प का अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष करा देती है। इस प्रकार के सन्निकर्ष का नाम 'ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष है'। यद्यपि सत्य सर्प और नेत्र के बीच में भित्ति आदि अन्तराय है, तथापि सदोष नेत्र द्वारा व्यवहित सर्प भी अव्यवहित देखा जाता है। इस स्थल में रज्जु में रज्जुत्व धर्म ख्यात अर्थात् प्रतीत न होकर सर्पत्व धर्म ही ख्यात या प्रतीत होता है अर्थात् वह रज्जु अन्य प्रकार से ख्यात होने के कारण इसका नाम अन्यथा ख्याति है। परन्तु नव्य नैयायिक चिन्तामणिकार का कहना है कि सदोष नेत्र द्वारा बल्मीकस्थित सर्प का ज्ञान यदि रज्जु में होता है, तो उस बल्मीक और रज्जु के मध्यवर्ती अन्यान्य वस्तुओं का ज्ञान भी होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं होता। इसलिए वस्तुतः अन्यदेशस्थित वस्तु का नेत्र द्वारा ज्ञान नहीं होता। उस भ्रमस्थल में दोषयुक्त नेत्र द्वारा रज्जु के निज रूप का ज्ञान नहीं होता, अपितु रज्जु सर्परूप से प्रतिभात होती है। इसलिए रज्जु की ही अन्यथा रूप से अर्थात् अन्य प्रकार से अर्थात् सर्प रूप से जो ख्याति अर्थात् ज्ञान या कथन होता है, उसे ही अन्यथा ख्याति कहते हैं। अन्यथा ख्यातिवादियों में प्रथम मत का खण्डन चिन्तामणिकार के मत द्वारा हुआ है। परन्तु चिन्तामणिकार का अन्यथाख्यातिविषयक मत भी असंगत है, क्योंकि ज्ञान सर्वदा ज्ञेयानुसारी होता है, सुतरां भ्रमस्थल में ज्ञेय अर्थात् विषय है रज्जु, और ज्ञान होगा सर्प का। यह अत्यन्त विरुद्ध उक्ति है, इसलिए यह मत ग्रहण योग्य नहीं है।

प्राभाकर मीमांसक का अभिप्राय यह है कि रज्जु में जो सर्प ज्ञान होता है, वह वस्तुतः रज्जु में सर्पज्ञान नहीं, अर्थात् सर्पत्व-विशिष्ट इदं-पदवाच्य रज्जु का ज्ञान नहीं। 'इदं ज्ञान' और सर्पज्ञान ये दो पृथक् ज्ञान हैं। रज्जु में जिस समय सर्पज्ञान होता है, उस समय इन दो ज्ञानों के भेद का ज्ञान नहीं रहता। इसलिये वहाँ अभेद-व्यवहार

होता है, अभेद का ज्ञान नहीं होता अर्थात् सर्पदृष्टा भीत होता है, इतना ही। यद्यपि 'यह सर्प है' इस भ्रम स्थल में 'यह' अंश रज्जु का सामान्य ज्ञान है और वह ज्ञान यथार्थ ज्ञान है, भ्रमज्ञान नहीं और पूर्वदृष्ट सर्प का स्मृतिज्ञान भी यथार्थ ज्ञान है, भ्रमज्ञान नहीं, तथापि भ्रमस्थल में ' 'मुझे दो ज्ञान हुये हैं, उनमें रज्जु में 'यह' रूपज्ञान सामान्य ज्ञान और 'सर्प' ज्ञान स्मृति रूप ज्ञान है' ऐसा विवेक अर्थात् भेदज्ञान नहीं होता। उन दो ज्ञानों का अविवेक ही अर्थात् भेदज्ञान का अभाव विशिष्ट उक्त 'यह' ज्ञान और सर्प-स्मृति ही प्राभाकर मत में भ्रम कही जाती है। वे एक विशिष्ट ज्ञान नहीं मानते, दो पृथक् ज्ञान स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि केवल उनका भेद प्रतीत नहीं होता। इसलिये इस मत में अन्य मत का भ्रमज्ञान भी सत्यज्ञान है। परन्तु विषय न रहने से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ रज्जु में सर्परूप विषय का अभाव रहने से उसका ज्ञान भी नहीं हो सकता। सुतरां भ्रमज्ञान ही असम्भव है। जिस प्रकार सत्यज्ञान स्थल में दो वस्तुओं के अथवा धर्म और धर्मी के भेदज्ञान का अभाव से व्यवहार होता है, वैसे रज्जु सर्पस्थल में भी इदंज्ञान और सर्पज्ञान के भेदज्ञान का अभाव से ही व्यवहार होता है। यह है प्राभाकर मीमांसक का मत। परन्तु यह अख्यातिवाद भी असङ्गत ही है, क्योंकि 'यह सर्प है' इस ज्ञान में अख्यातिवादी के मत में 'यह' पदवाच्य अंश रज्जु का सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञानमात्र है और 'सर्प' यह अंश पूर्वदृष्ट सर्प का स्मृतिज्ञान मात्र है। उसी स्थल में अख्यातिवादी यदि पूर्वदृष्ट सर्प का स्मरणमात्र स्वीकार करें और सम्मुखवर्ती रज्जुदेश में सर्प का प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार न करें तो सम्मुख-स्थित रज्जु देखकर पुरुष का भीत होना और पलायन युक्त नहीं होता। इसलिए कहना पड़ेगा कि भ्रमस्थल में सम्मुखस्थ रज्जु में ही सर्प की प्रतीति होती है—पूर्वदृष्ट सर्प की स्मृति नहीं होती। अथवा इस प्रकार के भ्रमस्थल में परवर्त्ती काल में रज्जुरूप

का ('यह' रूप का नहीं) ज्ञान होने पर इतः पूर्व अरण्यादि में जो सर्प की प्रतीति हुई थी, वह रज्जु में सर्परूप से प्रतीत होने से 'मेरी वह सर्प प्रतीति मिथ्या थी' इस प्रकार का बाध ज्ञान भ्रान्त पुरुष में उत्पन्न होता है। इस बाध ज्ञान-बल से ज्ञात होता है कि रज्जु में ही सर्प की प्रतीति हुई थी, पूर्व दृष्ट का स्मरण नहीं हुआ था। बाधज्ञान एक होने से उस रज्जु-सर्पज्ञान को भी एक ही ज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा अर्थात् 'यह सर्प है' इस प्रकार की प्रतीति में 'यह' एक ज्ञान और 'सर्प' दूसरा ज्ञान– इस प्रकार दो पृथक् ज्ञानों का बोध नहीं होता, किन्तु 'यह सर्प है' इस प्रकार एक ही ज्ञान होता है। इसलिये भी अख्यातिवाद ठीक नहीं है। एक ही काल में अन्तःकरण में स्मृति और प्रत्यक्षरूप दो भिन्न जातीय ज्ञान भी नहीं होते, इसलिये भी अख्याति-वाद असङ्गत है।

वेदान्त-सिद्धान्त में भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय ख्याति कही जाती है। उसका परिचय इस प्रकार है– अन्तःकरण की वृत्ति चक्षुरादि इन्द्रिय मार्ग से बहिर्गत होकर विषय के समान आकार धारण करती है। उसी वृत्ति के उस विषयाकार धारण से अज्ञानरूप आवरण का भङ्ग होकर विषय की प्रभारूप प्रतीति होती है। जहां रज्जु में सर्पभ्रम होता है, वहाँ भी अन्तःकरण वृत्ति चक्षुरादि इन्द्रियपथ से बहिर्गत होती है और रज्जु के साथ उसी वृत्ति का सम्बन्ध भी होता है, परन्तु चक्षु में तिमिरादि दोष रूप प्रतिबन्धक के रहने से अन्तःकरणवृत्ति रज्जु का समानाकार धारण नहीं करती, अतएव रज्जु का आवरण भङ्ग नहीं होता। इस रीति से आवरणभङ्ग की कारणभूत अन्तःकरण वृत्ति के साथ रज्जु का सम्बन्ध रहने पर भी जब रज्जु का आवरण भङ्ग नहीं होता, तब रज्जु-चैतन्य में अवस्थित अविद्या में क्षोभ उत्पन्न होकर वह अविद्या सर्पाकार-परिणाम को प्राप्त होती है (अन्तःकरण की वृत्ति अथवा अन्तःकरणवृत्ति का अर्थ अन्तःकरण की परिणति है। जिस समय घटादि पदार्थों का ज्ञान होता है, उस समय अन्तःकरण

घटादि पदार्थों का आकार धारण कर लेता है। अन्तःकरण का यह आकार-धारण अन्तःकरण वृत्ति या परिणति कही जाती है) आगे उसी अविद्या का कार्य वह सर्प यदि 'सत्' हो तो रज्जु के यथार्थ ज्ञान द्वारा वह सर्पज्ञान बाधित न होगा, परन्तु रज्जु सर्पस्थल में वह सर्पज्ञान रज्जु के यथार्थज्ञान द्वारा बाधित होता है, अतएव वह सर्प 'सत्' नहीं है, क्योंकि अबाधित वस्तु ही सत् होती है और वह सर्प यदि 'असत्' वस्तु हो, तो शशश्रृङ्ग के समान उस की प्रतीति ही न होगी, परन्तु उस सर्प की प्रतीति होती है, सुतरां वह 'असत्' भी नहीं है। इसलिये रज्जु-सर्प सत् तथा असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय वस्तु है। शुक्ति प्रभृति में इसी प्रकार अनिर्वचनीय रजतादि की भी उत्पत्ति होती है। उस अनिर्वचनीय वस्तु की ख्याति अर्थात् प्रतीति या कथन को 'अनिर्वचनीय ख्याति' कहा जाता है।

विचार-साधन

विशोक आनन्दमयो विपश्चित्, स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कश्चित् ।
नान्योऽस्ति पन्था भवबन्ध मुक्त्यै, विना स्वतत्त्वावगमं सुसूक्ष्मम् ॥१॥
(भगवान् भाष्यकार श्री शंकर)

शोक रहित आनन्दमय विद्वान् स्वयं किसी से भी भयभीत नहीं होता । अति सूक्ष्म आत्मतत्त्वज्ञान के बिना भवबन्धन से मुक्ति प्राप्त करनें का और कोई उपाय नहीं है ॥१॥

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं, अन्तर्बहिःशून्य मनन्यमात्मनः ।
विज्ञाय सम्यङ् निज तत्त्वमेतत् पुमान् विपात्मा विरजो विमृत्यु ॥२॥

नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्म, भीतर और बाहर से शून्य एवं भेद रहित आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूप से जान कर मनुष्य पाप से रहित, ताप से रहित और मृत्युञ्जय हो सकता है ॥२॥

ब्रह्म-भिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम् ।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः ॥३॥

ब्रह्म के साथ आत्मा का अभेद ज्ञान संसार से मुक्त होने का हेतु है । ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य ज्ञान के द्वारा पण्डित लोग अद्वितीय आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥३॥

ब्रह्मभूतस्तु संस्सृत्यै विद्वान्नावर्तते पुनः ।
विज्ञातव्यमतः सम्यग् ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः ॥४॥

जो ब्रह्म को जानकर ब्रह्म स्वरूप हो गये हैं, उनका पुनः संसार में आवागमन नहीं होता । अतएव सम्यक् रूप से आत्मा और ब्रह्म का अभेदज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥४॥

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् ।
तत्सर्वं ब्रह्मैकं प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ॥५॥

यह समस्त जगत् जो अज्ञान के कारण नानारूप में प्रतीत हो रहा है, सब सजातीय्, विजातीय और स्वगतभेद से रहित अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तत्व में भेदभावना के दोष प्रत्यक्ष हो रहे हैं।

मृत्कार्यं भूतोऽपि मृदो न भिन्न; कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपम्।
न कुम्भ रूपात् पृथगस्ति कुम्भः कुतो मृषा कल्पित नाममात्रः ॥६॥

मृत्तिका से उत्पन्न वस्तु मृत्तिका से भिन्न नहीं होती, घट सर्वत्र ही मृत्तिका स्वरूप होता है। घटरूप से घट पृथक् नहीं होता, क्योंकि 'घट' नाम और आकार मिथ्या अर्थात् मृत्तिका में कल्पित मात्र होता है ॥६॥

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं घटस्य सन्दर्शयितुं न शक्यते।
अतो घटः कल्पित एव मोहान्मृदेव सत्यं परमार्थ भूतम् ॥७॥

कोई भी मृत्तिका से भिन्न घट के स्वरूप को नहीं दिखला सकता। अतः अज्ञान वश मृत्तिका में घट कल्पित ही है, एक मात्र मृत्तिका ही सत्य और परमार्थरूप है ॥७॥

सद्ब्रह्म कार्यं सकलं सदेव तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥८॥

ब्रह्म सत्स्वरूप है, समस्त कार्य सत्स्वरूप है, ब्रह्म स्वरूप है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जो पुरुष कहता है कि ब्रह्मातिरिक्त कोई वस्तु है, उसकी बात सोये हुये पुरुष के प्रलाप के समान मिथ्या है, क्योंकि उसका मोह नष्ट नहीं हुआ है ॥८॥

मैं देह नहीं हूं, क्योंकि देह दृश्यमान होता है, मैं द्रष्टा हूं। मैं इन्द्रिय भी नहीं हूं, क्योंकि इन्द्रियां भौतिक पदार्थ हैं और मैं अभौतिक हूं। मैं प्राण नहीं हूं क्योंकि प्राण अनेक हैं और मैं एक हूं। मैं मन नहीं हूं क्योंकि मन चञ्चल है, मैं स्थिर हूं, एक रूप हूं। मैं बुद्धि नहीं हूं, क्योंकि बुद्धि विकारी है, मैं निर्विकार हूं, एक रस हूं। मैं तम नहीं, क्योंकि वह जड़ है, मैं चेतन हूं, प्रकाश स्वरूप हूं। मैं देह, इन्द्रिय आदि की समष्टि भी नहीं हूं, क्योंकि वे सब घटादि के समान

नाशवान् हैं– मैं अविनाशी हूं, नित्यसाक्षी हूं। मैं देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि अज्ञान आदि को प्रकाशित कर, इन देहादि में आत्मा का अभिमान करने वाले अहङ्कार को प्रकाशित करता हूं।

यह सारा जगत् मैं नहीं हूं, बुद्धि का विषयसमूह भी मैं नहीं हूं, क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्था में भी साक्षी रूप में मेरी सत्ता प्रतीत होती है। मैं सुषुप्ति अवस्था में जिस प्रकार निर्विकार रहता हूं। उसी प्रकार अन्य दो अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नावस्था में भी मैं निर्विकार रहता हूं। स्वप्न और जाग्रदवस्था केविषयादि के स्पर्श से मैं विकृत नहीं होता। जिस प्रकार उपाधिगत नील, रक्त प्रभृति वर्णों के द्वारा स्फटिक लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार काम, क्रोध आदि शरीरज दोषों के द्वारा आत्मा लिप्त नहीं होता।

जो पुरुष देहत्रय को नित्य समझ कर उसमें आत्माभिमान करता है, तथा जब तक उसमें इस प्रकार का भ्रम रहता है, तब तक वह मोहान्धपुरुष नाना योनियों में जन्म ग्रहण करता रहता है। निद्रावस्था में जो देह प्रतीत होता है, उसमें जो सुख-दुःखादि के अनुभव होते हैं, वे सब जिस प्रकार जाग्रत् शरीर को स्पर्श नहीं कर सकते, उसी प्रकार जाग्रत् शरीर में जो समस्त दुःख-सुखादि का ज्ञान होता है, वह आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता। निद्रावस्था में—स्वप्न में—जिस देह की प्रतीति होती है, वह जाग्रत् शरीर के समान सत्य सा प्रतीत होता रहता है। परन्तु स्वप्न-कल्पित शरीर के नष्ट होने पर जाग्रत्-अवस्था का शरीर नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्था में जाग्रत् शरीर आत्मवत् प्रतीत होता है, अर्थात् उस समय जाग्रत् शरीर में ही आत्माभिमान होता है। जब यह जाग्रत् शरीर विनष्ट हो जाता है, तब आत्मा कभी नष्ट नहीं होता। स्वप्न कल्पित शरीर के नष्ट होने पर जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्था का शरीर अवशिष्ट रहता है, उसी प्रकार प्रबुद्ध व्यक्ति के जाग्रत्-अवस्था के शरीर के नष्ट होने पर आत्मा अवशिष्ट रहता है।

जिस प्रकार जिस व्यक्ति को रज्जु में सर्प-भ्रम नहीं है, वह व्यक्ति

रज्जु देख कर भयभीत नहीं होता, उसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञानी अर्थात् भ्रमरहित हैं, वह संसार तथा तज्जनित तापत्रय से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति अज्ञ है और काम्य कर्मों में निरत रहता है, वह निरन्तर संसार-चक्र में भ्रमण किया करता है।

स्थूल शरीर मांसमय तथा सूक्ष्म शरीर वासना अर्थात् संस्कार-मय होता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, बुद्धि और मन—इन सत्तरह तत्त्वों की समष्टि का नाम है 'सूक्ष्म शरीर'। अज्ञान को 'कारण-शरीर' कहते हैं। साक्षी रूप बोध ही इस त्रिविध शरीर का प्रकाशक है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित बोध का आभास ही पुण्य और पाप का कर्त्ता है। वही कर्म के वश होकर सदा इह लोक और परलोक में गमनागमन करता रहता है। प्रयत्नपूर्वक इस बोधाभास से शुद्ध बोध को पृथक करना चाहिये। जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था में ही बोधाभास दृष्ट होता है। परन्तु सुषुप्तिकाल में जब बोधाभास लय को प्राप्त होता है तब शुद्ध बोध ही अज्ञान को प्रकाशित करता है। जाग्रत्-अवस्था में भी बुद्धि का स्थिरभाव शुद्ध-बोध के द्वारा प्रकाशित होता है, तथा चिदाभास युक्त जो बुद्धि के समस्त व्यापार हैं वे भी साक्षी चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार अग्नि से प्रतप्त जल तापयुक्त होकर शरीर को तापप्रद जान पड़ता है, उसी प्रकार आभास संयुक्त बुद्धि साक्षी चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होकर अन्य वस्तु की प्रकाशक बनती है। रूप-रसादि पञ्च विषयों में गुण-दोष रूप जो विकल्प हैं, वे बुद्धिस्थ क्रियास्वरूप हैं। चैतन्य रूपादि विषयों के साथ इन सब क्रियाओं को प्रकाशित करता है। प्रत्येक क्षण बुद्धि के विकल्प (व्यापार) समूह विभिन्न रूप धारण करते हैं, परन्तु चैतन्य विभिन्न रूप नहीं होता। जिस प्रकार मोती की माला में मोतियों के परस्पर विभिन्न होने पर भी सूत्र अन्य रूप नहीं होता, परन्तु सब मोतियों में पिरोया रहता है, उसी प्रकार बुद्धि के व्यापारों के परस्पर भिन्न होने पर भी चैतन्य सर्वत्र एक रूप में

अनुगत रहता है। जिस प्रकार मोतियों के द्वारा ढका होने पर भी सूत दो मोतियों के बीच में दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार चैतन्य बुद्धि-वृत्ति रूप विकल्पों के द्वारा आवृत्त होने पर भी दो विकल्पों के बीच में स्पष्ट प्रतीत होता है। पहले विकल्प के नष्ट होने पर जब तक दूसरा विकल्प उत्पन्न नहीं होता, तब तक निर्विकल्पक चैतन्य स्पष्ट रूप से प्रकाशित रहता है। जो लोग ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं, उनको इसी प्रकार एक, दो या तीन क्षणों में विकल्प अर्थात् व्यापार के निरोध का क्रमशः यत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये, जो अहं सविकल्प चैतन्य है, वही अहं एक मात्र निर्विकल्प ब्रह्म है। विकल्प स्वतःसिद्ध, स्वाभाविक अर्थात् अविद्या कल्पित है। प्रयत्न-पूर्वक इन सब विकल्पों का निरोध करना चाहिये। जब शरीर में आत्मबुद्धी के समान ब्रह्म में आत्मबुद्धि दृढ़ रूप से हो जाती है, तभी कृतकृत्यता प्राप्त होती है फिर शरीर की मृत्यु होने पर भी पुरुष मुक्त हो जाता है, इसमें कोई भी संशय नहीं।

× × × ×

माया की दो शक्तियाँ हैं—एक विक्षेपशक्ति और दूसरी आवरण-शक्ति। विक्षेप शक्ति लिङ्ग शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत् की सृष्टि करती है। सृष्टि किसे कहते हैं? समुद्र में जिस प्रकार फेन, बुद्बुद, तरङ्ग आदि का आविर्भाव होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म में नामों और रूपों का जो विकास होता है, उसी का नाम सृष्टि है। आवरणशक्ति शरीर के भीतर द्रष्टा आत्मा और दृश्य अन्तःकरण के भेद को, तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत करती है। यही आवरणशक्ति संसार का कारण है। स्थूल शरीर के साथ संयुक्त लिङ्गशरीर साक्षी के सम्मुख विराजमान रहता है। वह चैतन्य की छाया के द्वारा सम्बन्ध होने पर व्यावहारिक जीव के नाम से पुकारा जाता है। जीव का जीवत्व अध्यास के कारण साक्षी को जीव रूप प्रतीत होता है। आवरणशक्ति के नष्ट होने पर अर्थात्

साक्षी और जीव का भेद प्रगट हो जाने पर जीवत्व नष्ट हो जाता है। आवरणशक्ति सृष्ट पदार्थ और ब्रह्म के भेद को ढक कर स्थित है, इसी से ब्रह्म कार्य जगत् के रूप में प्रगट होता है। माया की आवरण-शक्ति का नाश होने पर ब्रह्म और सृष्ट पदार्थों का भेद प्रकट हो जाता है। सृष्टि काल में ब्रह्म और सृष्ट पदार्थों का विकार होता है परन्तु वस्तुतः ब्रह्म का कभी विकार नहीं होता, आवरणशक्ति के कारण ब्रह्म विकारयुक्त जान पड़ता है।

प्रत्येक पदार्थ में पांच अंश दिखलाई पड़ते है— सत्ता, प्रकाश, आनन्द, रूप और नाम। इनमें पूर्वोक्त तीन ब्रह्म के स्वरूप हैं, नाम और रूप जगत् के स्वरूप हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी में तथा देवता, पशु-पक्षी आदि तिर्यक् जाति और मनुष्य आदि में सत् चित् आनन्द अभिन्न भाव से विद्यमान हैं, केवल नाम और रूप का भेद होता है। मोक्ष की इच्छा करने वाले मनुष्य का कर्त्तव्य सच्चिदा-नन्द वस्तु में एकाग्र होकर नाम और रूप की उपेक्षा करके सर्वदा हृदय में अथवा बाहर समाधि का अभ्यास करना है। समाधि दो प्रकार की होती है—सविकल्प, निर्विकल्प। फिर, सविकल्प समाधि भी दो प्रकार की होती है—दृश्यानुविद्ध अर्थात् दृश्य से सम्बद्ध और शब्दानुविद्ध अर्थात् शब्द से सम्बद्ध। काम आदि सब दृश्य चित्त के धर्म हैं, इनकी उपेक्षा करके इनके साक्षी-स्वरूप चेतन का ध्यान करना चाहिये। इसे हृदयस्थ दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। 'मैं असङ्ग हूं, सच्चिदानन्द हूं, स्वयंप्रकाश-द्वैतरहित हूं' इस प्रकार निरन्तर एकतान चिन्तन प्रवाह में डूबे रहने का नाम है हृदयस्थ शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। अपने अनुभव रूप रस के आवेश के द्वारा कामादि दृश्य पदार्थ और शब्द समूह की उपेक्षा करके निर्वात स्थान में स्थित दीपशिखा के समान जो समाधि होती है, उसे निर्वि-कल्प समाधि कहते हैं। हृदय के समान वहिर्देश में या किसी भी वस्तु में दृश्यानुविद्ध समाधि का अभ्यास किया जा सकता है, उसमें नाम

और रूप को पृथक् करके सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करना पड़ता है। अखण्ड, एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप ही ब्रह्म वस्तु है, इस प्रकार अविच्छिन्नरूप से चिन्तन करने को शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। रसास्वादन के परिपाक के द्वारा पूर्ववत् जो स्तब्धता आ जाती है, उसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। योगी को इस तरह छः प्रकार की समाधि के द्वारा सदा काल व्यतीत करना चाहिये, शरीर में आत्माभिमान के दूर होने पर तथा परमात्मज्ञान होने पर जहां-जहाँ मन दौड़ता है, वहीं-वहीं समाधि लगती जाती है। श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थि-श्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

परावर ब्रह्म का दर्शन होने पर हृदय की कामादि ग्रन्थियां टूट जाती हैं, समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं, तथा सञ्चित कर्मों का क्षय हो जाता है।

जीव तीन प्रकार के हैं— बुद्धि आदि के द्वारा अवच्छिन्न, चिदाभास और स्वप्न कल्पित। इनमें अवच्छिन्न जीव पारमार्थिक है। अवच्छेद कल्पित है, परन्तु अवच्छेद्य यथार्थ है। अवच्छेद्य ब्रह्म में जीवत्व आरोपित है, ब्रह्मत्व ही स्वाभाविक है। 'तत्त्वमसि' आदि महा वाक्य पूर्ण ब्रह्म के साथ अविच्छिन्न जीव की एकता प्रकट करते हैं, अन्य दो जीवों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते।

विक्षेप शक्ति और आवरण शक्ति से युक्त माया ब्रह्म में अवस्थान करती है। वह माया ब्रह्म की अखण्डता को आवृत करके उसमें जगत् और जीव की कल्पना करती है। बुद्धिस्थ चिदाभास को जीव कहते हैं, वही भोक्ता और कर्मकारक है। यह सब भूतभौतिक जगत् जीव का भोग्यस्वरूप है। अनादि काल से लेकर मोक्ष के पूर्वपर्यन्त जीव और जगत् व्यवहार-काल में वर्तमान रहते हैं, अतएव दोनों ही व्यावहारिक हैं। चिदाभास में स्थित विक्षेप और आवरण शक्ति रूपा निद्रा माया के द्वारा सृष्ट जीव और जगत् को आवृत करके नूतन जीव और

जगत् की कल्पना करती है। जब तक प्रतीति है, तभी तक अवस्थिति रहती है, इसी कारण इस जीव और जगत् को 'प्रातिभासिक' कहते हैं। क्योंकि स्वप्न से जागे हुये व्यक्ति के लिये फिर स्वप्न में इस जीव और जगत् की अवस्थिति नहीं रहती। प्रातिभासिक जीव प्रातिभासिक जगत् को वास्तविक समझता है, परन्तु व्यावहारिक जीव प्रातिभासिक जगत् को मिथ्या जानता हैं। व्यावहारिक जीव व्यावहारिक जगत् को सत्य समझता है, परन्तु पारमार्थिक जीव व्यावहारिक जगत् को मिथ्या जानता है। पारमार्थिक जीव अद्वितीय ब्रह्म को (जीव और ब्रह्म के ऐक्य को) पारमार्थिक जानता है, अन्य किसी वस्तु को पारमार्थिक नहीं समझता, बल्कि मिथ्या जानता हैं।

जल के धर्म माधुर्य, द्रवत्व और शैत्य जिस प्रकार तरङ्ग में व्याप्त होकर तरङ्गस्थित फेन में व्याप्त होते हैं, उसी प्रकार साक्षी स्थित सच्चिदानन्द व्यावहारिक जीव से सम्बद्ध होकर व्यावहारिक जीव के द्वारा प्रातिभासिक जीव में व्याप्त हो जाते हैं। फेन के नष्ट होने पर उसके धर्म द्रवत्व प्रभृति तरङ्ग में अवस्थित होते हैं और तरङ्ग के विलय होने पर पूर्व के अनुसार जैसे जल में अवस्थान करते हैं, उसी प्रकार प्रातिभासिक जीव के लय होने पर सत्-चित्-आनन्द साक्षी में अवस्थान करते हैं।

× × × ×

जब अज्ञान के कारण अधिष्ठान, चिदाभास और बुद्धि—ये तीनों एक रूप में प्रतीत होते हैं, तब उसे 'जीव' नाम से पुकारा जाता है। केवल अधिष्ठान चैतन्य (कूटस्थ) जीव नहीं, क्योंकि अधिष्ठान चैतन्य निर्विकार है। चिदाभास (बुद्धि में चित्प्रतिबिम्ब) भी जीव नहीं, क्योंकि वह मिथ्या है और केवल बुद्धि भी जीव नहीं, क्योंकि बुद्धि जड़ है। अतएव चिदाभास, कूटस्थ और बुद्धि—इन तीनों का संयोग ही जीव कहलाता है। माया, चिदाभास और विशुद्ध आत्मा—इन तीनों के संयोग को महेश्वर कहते हैं। माया और चिदाभास के मिथ्या होने के कारण

इनमें से कोई ईश्वर नहीं। आत्मा को पूर्ण, विशुद्ध और निर्विकार होने के कारण महेश्वर कहा जाता है। माया के जड़त्व के कारण भी माया को ईश्वर नहीं कहा जाता। अतएव माया और चिदाभास 'तत्' पद के प्रतिपाद्य ईश्वर नहीं हैं। अज्ञान के कारण जीव और ईश्वर प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार महाकाश में घटाकाश और गृहाकाश कल्पित होते हैं, उसी प्रकार चिदाभासरूप अहं में जीव और ईश्वर कल्पित होते हैं। माया और माया के कार्य के लय होने पर ईश्वरत्व और जीवत्व नहीं रहता, क्योंकि चैतन्यरूप आकाश के उपाधिविहीन होने के बाद अहं शुद्ध चैतन्यरूप में अवस्थान करता है।

चित्स्वरूप आत्मा उपाधिधारण के कारण जीवरूप में प्रकट होता है, परन्तु उपाधि के नाश होने पर शिवस्वरूप परमात्मा का ईश्वरत्व और जीवत्व कुछ भी नहीं रहता। शिव ही सदा जीव और जीव ही सदा शिव हैं। जिनको इन दोनों की एकता प्राप्त हो गई है वे ही आत्मज्ञ हैं, और कोई आत्मज्ञ नहीं। जिस प्रकार जल दूध में मिलकर दूध के समान दिखलायी देता है, उसी प्रकार यह अनात्मस्वरूप जगत् आत्मा के सहयोग से आत्मा के समान प्रतीत होता है। जीव स्थूल देहादि से आत्मा को पृथक् करके मुक्त होता है। यदि स्थाणु में चोर का आरोप होता है अर्थात् उसमें चोर होने की भ्रान्ति होती है तो इस से उस स्थाणु का कोई बिकार नहीं होता, इसी प्रकार निर्विकार आत्मा में विश्व का आरोप होने पर भी आत्मा में कोई विकार नहीं होता। जहाँ स्थाणु में चोर का अध्यास होता है, वहां स्थाणु का ज्ञान होने पर चोर की उपलब्धि नहीं होती, चोर की उपलब्धि न होने पर भय भी नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर संसार नहीं रहता और संसार के न रहने पर नाना प्रकार की वस्तुएं नहीं दिखलायी देतीं। अविद्याकल्पित समस्त अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं और अविद्या की निवृत्ति होने पर पुरुष परमानन्दस्वरूप को प्राप्त होता है।

अविद्या या अज्ञान के कारण जीव अपने को ब्रह्म रूप नहीं

मानता, ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के द्वारा वह अज्ञान नष्ट हो जाता है। इस अज्ञान के द्वारा ही जीव, ईश्वर और जगत् का आविर्भाव होता है। अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान होने पर यह अज्ञान नष्ट हो जाता है —जीव, जगत् और ईश्वर भाव विलुप्त हो जाते हैं, और तब यह कहा जाता है कि जीव का मोक्ष हो गया। अन्यथा जीव स्वरूपतः (इस बद्ध-अवस्था में भी) मुक्त है। जीव के सुख, दुःख, भय, शोक और मोह आदि सभी इसी अज्ञान के फल हैं। जब तक जीव का अज्ञान रहता है, तब तक व्यवहार रहता है। जब तक व्यवहार है, तब तक कर्म और उपासना हैं—तब तक पूजा-पाठ, प्रार्थना-स्तुति, होम, याग-यज्ञ सभी अधिकारानुसार करने पड़ते हैं। देवता, ऋषि, गुरु सब की आराधना करनी पड़ती है। और जब तक अज्ञान रहता है, तब तक दुःखमिश्रित सुख की ही जीव कामना करता है। वैकुण्ठ, शिवलोक, ब्रह्मलोक आदि कामना की चरमसीमा हैं। यह क्रममुक्ति का मार्ग है। क्रममुक्ति से भी अन्त में अद्वैतज्ञान द्वारा निर्वाण प्राप्त होता है। परन्तु अद्वैत ब्रह्मात्मैक्यज्ञान सद्योमुक्ति का मार्ग है।

श्रुत्याचार्य प्रसादेन दृढ़ो बोधो यदा भवेत्।
निरस्ताशेष संसारनिदानः पुरुषस्तदा ॥

(वाक्यवृत्ति ५०)

जब श्रुति और आचार्य के अनुग्रह से दृढ़ ज्ञान उत्पन्न होता है, तब पुरुष की संसार की कारणरूप समस्त अविद्या दूर हो जाती है।

विशीर्णकार्यकरणो भूतसूक्ष्मैरनावृतः।
विमुक्त कर्म निगडः सद्य एव विमुच्यते ॥

(वाक्यवृत्ति ५१)

जब कार्य रूप शरीर और कारण रूप इन्द्रियाँ विशीर्ण हो जाती हैं, सूक्ष्म भूतों के आवरण दूर हो जाते हैं, कर्मरूपी बन्धन नष्ट हो जाते हैं, तब मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैव पुनः पुनः ।
स एव मुक्तो विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः ॥
(ब्रह्मज्ञानावलीमाला)

जो देह, इन्द्रिय प्रभृति अनात्मा से आत्मा को पृथक् करके 'मैं साक्षीस्वरूप हूं' इस प्रकार से आत्मा को जानते हैं, वे ही विद्वान् हैं, वे ही मुक्त हैं—यह समस्त वेदान्त की घोषणा है।

देहत्रयमिदं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि सत्यवत् ।
स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादि विलक्षणः ॥
(अद्वैतानुभूति ८३)

जिस ब्रह्म में देहत्रय सत्य के समान प्रतीयमान हो रहा है, मैं वही जाग्रदादि से विलक्षण परम ब्रह्म हूं।

विश्वादिकं त्रयं यस्मिन् परमात्मनि संस्थितम् ।
स एव परमात्माहं विश्वादिक विलक्षणः ॥
(वाक्यवृत्ति ८४)

जिस परमात्मा में विश्व, तैजस और प्राज्ञ—ये तीनों अवस्थान करते हैं, मैं विश्वादि से विलक्षण वही परमात्मा हूँ।

जाग्रदादित्रयं यस्मिन् प्रत्यगात्मनि सत्यवत् ।
स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादि विलक्षणः ॥
(वाक्यवृत्ति ८५)

जिस विश्वव्यापी आत्मा में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये अवस्थात्रय सत्यवत् प्रतीयमान होते हैं, मैं जाग्रदादि अवस्थाओं से पृथक् वही पर-ब्रह्म हूँ।

विराडादित्रयं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि नश्वरम् ।
स एव सच्चिदानन्द लक्षणोऽहं स्वयंप्रभुः ॥
(वाक्यवृत्ति ८६)

जिस परब्रह्ममें विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर प्रभृति मूर्तित्रय प्रकाशमान होते है, मैं वही सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयं प्रकाश परब्रह्म हूं।

१२

महावाक्यार्थ--निर्णय

विवेक-वैराग्य-शमदमादि और मुमुक्षुता—ये चार, श्रवण, मनन और निदिध्यासन—ये तीन तथा 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के 'तत्' और 'त्वं' इन दो पदों के अर्थ का शोधन अर्थात् यथार्थ ज्ञान ये आठ जीव और ब्रह्म के एकत्वज्ञान के अन्तरङ्ग साधन हैं। इनमें विवेकादि चारसाधनों की श्रवण में उपयोगिता है, क्योंकि विवेकादिचतुष्टयरहित बहिर्मुख व्यक्ति की श्रवण में रुचि नहीं होती और श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा महावाक्यविचार की साक्षाद् ज्ञान में उपयोगिता है। अतः इन आठों को ज्ञान का अन्तरङ्ग साधन कहा गया है। यद्यपि विवेक आदि चार को भी ज्ञान के अन्तरङ्ग साधन बतलाया गया है बहिरङ्ग नहीं, तथापि विवेकादि चार साधन साक्षात् ज्ञान के साधनस्वरूप श्रवण के ही प्रत्यक्षफलप्रद हेतु हैं। श्रवणादि के समान विवेकादि भी जिज्ञासु के लिये अवलम्बनीय हैं, यज्ञादि के समान हेय नहीं, इसलिये विवेकादि को भी ज्ञान का अन्तरङ्ग साधन कहा गया है। परन्तु विचारदृष्टि से देखने पर ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के मुख्य अन्तरङ्ग साधन 'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्य ही होते हैं, श्रवणादि नहीं क्योंकि वेदवाक्य के तात्पर्य-निश्चयात्मक उपक्रम-उपसंहार की एकता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इस षड्विध लिङ्ग की सहायता से विचार करने पर परम्परया ब्रह्म रूप प्रत्यगात्मा ही अर्थात् अद्वैत ब्रह्म ही श्रुति वाक्यों का तात्पर्य है, ऐसा निश्चय करना 'श्रवण' है। प्रमेयगत अर्थ की निवृत्ति द्वारा बुद्धि के स्व-स्वरूप में एकाग्रताकारक, अभेद साधक तथा भेद बाधक युक्तियों द्वारा ब्रह्म और आत्मा के एकता रूप अर्थ के सम्भावितत्व का अनुसन्धान 'मनन' कहा जाता है और श्रवण-मनन

द्वारा जीव-ब्रह्म का अभेद रूप अर्थ निःसन्देह से अवधारित होने पर उसमें चित्त स्थिर करने से चित्त में जो एकाकार वृत्तिप्रवाह चलता है उसे ही 'निदिध्यासन' कहते हैं अर्थात् ब्रह्म और आत्मा के एकतारूप वस्तुके आकार से आकारित चित्तवृत्ति की प्रवाह रूपता निदिध्यासन है। निदिध्यासन में अभ्यास पटुता द्वारा ध्याता (ध्यान कर्ता अर्थात् चिदाभासयुक्त अन्तःकरण) और ध्यान (ध्येयाकार चित्तवृत्ति प्रवाह) का क्रमशः परित्याग कर चित्तवृत्ति जब केवल ध्येयरूपता (ध्यान के विषय ब्रह्म का रूप) धारण करती है, तब निश्चल वायुवाले स्थान में विद्यमान दीप की तरह निश्चल अर्थात् ध्येयाकारमें आकारित चित्तवृत्ति ही 'समाधि' कही जाती है। अतएव समाधि के निदिध्यासनान्तर्गत होने से उसे पृथक् साधन नहीं कहा जाता। परन्तु श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान के साक्षात् साधन नहीं हैं, वे बुद्धि के असम्भावना, विपरीतभावना दोषों के नाशक होते हैं अर्थात् प्रतिबन्धकाभाव रूप या शक्ति रूप से ज्ञान के करण होते हैं।

असम्भावना का अर्थ है संशय। वेदान्तवाक्य ब्रह्म प्रतिपादक है या अन्य अर्थ प्रतिपादक ? जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही सत्य है या उनका भेद ही सत्य है--इस प्रकार के संशय का नाम 'असम्भावना' है। रज्जु देखकर 'क्या यह सर्प है' ऐसा जो बोध होता है वही यहां संशय या असम्भावना पदवाच्य है। विपरीतभावना का अर्थ है विपर्यय अर्थात् भ्रम। देहादि सत्य हैं और जीव तथा ब्रह्म का भेद सत्य है। इस प्रकार का ज्ञान 'विपरीत भावना' कहा जाता है। जैसे रज्जु का सर्परूप से निश्चयज्ञान विपरीत भावना अर्थात् भ्रम कहा जाता है। प्रमाणगत और प्रमेयगत भेद से असम्भावना दो प्रकार की है। ब्रह्मके सम्बन्ध में प्रमाणभूत उपनिषद् वाक्यों की ब्रह्म प्रतिपादकता है या नहीं अर्थात् वेदान्तवाक्य ब्रह्मप्रतिपादक हैं अथवा अन्यार्थ प्रतिपादक यह सन्देह प्रमाणविषयक असम्भावना है और जीव तथा ब्रह्म का अभेद सत्य है या भेद, ऐसा सन्देह प्रमेय विषयक असम्भावना है। श्रवण द्वारा

प्रमाण विषयक असम्भावना और मनन द्वारा प्रमेयविषयक असम्भावना दूर होती है। विपरीत भावना, विपर्यय अथवा भ्रम निदिध्यासन से दूर होता है। इस प्रकार श्रवणादि तीन ही असम्भावना विपरीत-भावना के नाशक हैं। असम्भावना तथा विपरीतभावना ज्ञान की प्रति-बन्धिका हैं, अतएव ज्ञान प्रतिबन्धक के नाश द्वारा श्रवणादि तीनों को ज्ञान काहेतु कहा जाता है, वे साक्षात् ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानके हेतु नहीं हैं। परन्तु इससे श्रवण की शाब्द बोध रूप ज्ञानजनकता का निषेध नहीं होता।

अवान्तर वाक्य और महावाक्यभेद से वेदान्तवाक्य दो प्रकार के हैं। उनमें परमात्मा और जीव के स्वरूप बोधक वाक्य अवान्तर वाक्य हैं, जैसे--"सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि और जीव तथा परमात्मा के अभेद बोधक वाक्य महावाक्य हैं जैसे--'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि। अवान्तर वाक्यों से परोक्ष ज्ञान और महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। 'ब्रह्म है' यह ज्ञान परोक्ष ज्ञान और 'मैं ही ब्रह्म हूं' यह ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है। आचार्य द्वारा उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' यह वाक्य के शिष्य के श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्धित होने पर वह शिष्य के मन में 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है। शिष्य के श्रवणे-न्द्रिय के साथ सम्बन्ध हुये विना उस वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः श्रवणेन्द्रिय के साथ सम्बद्ध वाक्य ही ज्ञान का हेतु कहा गया है, क्योंकि शब्द, का स्वभाव ही यह है कि जो वस्तु देशकृत तथा कालकृत व्यवधान-रहित होती है, शब्द द्वारा उसका परोक्ष तथा अपरोक्ष दो प्रकार का ज्ञान होता ही है। जहां अव्यवहित वस्तु 'अस्ति' प्रभृति शब्द द्वारा प्रतिपादित होती है, वहां उसका परोक्ष ज्ञान होता है—जैसे "दशमोऽस्ति" (दशम पुरुष मरा नहीं, वह जीवित है) इस प्र . ार 'अस्ति' शब्द द्वारा प्रतिपादित दशम व्यक्ति का परोक्ष ज्ञान होता है। जहां अव्यवहित वस्तु 'इदम् असौ' शब्द द्वारा बोधित होती है, वहां उसका अपरोक्ष ज्ञान होता है, जैसे 'त्वमेव दशमोऽसि' (यह

तुम ही दशम पुरुष हो) यहां शब्द द्वारा बोधित दशम पुरुष का ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है, परोक्ष ज्ञान नहीं। ब्रह्म सब का आत्मा होने से सभी को अत्यन्त अव्यवहित है। अवान्तर वाक्य 'अस्ति' प्रभृति शब्द द्वारा जब उस ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, तब पहले नियमानुसार उस अस्ति आदि शब्द द्वारा परोक्ष ज्ञान होता है और 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य के सदृश महावाक्य श्रोता के आत्मरूप से ब्रह्म का प्रतिपादन कराने के कारण नियमानुसार उस महावाक्यरूप शब्द द्वारा अव्यवहित ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान न होकर अपरोक्ष ज्ञान होता है।

जिस पद के अभाव में अन्य पद का अन्वय बोधगम्य नहीं होता, उस पद के साथ उसकी समभिव्याहार योग्यता के कारण अथवा एकत्र उच्चारण-योग्यता के कारण सान्निध्य होने पर उस समूह को 'वाक्य' कहते हैं और जीव तथा परब्रह्म की एकार्थता—बोधक वाक्य 'महा-वाक्य' कहा जाता है। समग्रवेद में इस प्रकार के बारह महावाक्य हैं, परन्तु ऋग्वेदान्तर्गत ऐतरेयोपनिषद् 'प्रज्ञानं ब्रह्म', यजुर्वेदान्तर्गत बृह-दारण्यकोपनिषद्गत 'अहं ब्रह्मास्मि', सामवेदान्तर्गत छान्दोग्योपनिषद्गत 'तत्त्वमसि' और अथर्ववेदान्तर्गत माण्डूक्योपनिषद्गत 'अयमात्मा ब्रह्म' ये चार महावाक्य ही मुख्य रूप से प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्म और आत्मा का एकताज्ञान मुमुक्षुओं के मोक्ष का साधन है। उस ज्ञान की सिद्धि के लिये महावाक्यों का अर्थ जानना परमावश्यक है। किसी भी वाक्यान्तर्गत पद समूह का अर्थ समझे बिना उस वाक्य का अर्थ बोधगम्य नहीं होता, अतः पदों का अर्थ पहले जान लेना आवश्यक होता है। पद के साथ अर्थ का सम्बन्ध 'वृत्ति' कहा जाता है। वह वृत्ति अर्थात् सम्बन्ध दो प्रकार का है—शक्ति वृत्ति और लक्षणावृत्ति। किसी भी पद में उसके अर्थ का ज्ञान कराने का जो सामर्थ्य रहता है उसे उस पद की 'शक्ति' कहते हैं, जैसे जन्तु शब्द में प्राणी का बोध कराने की जो सामर्थ्य है वह उस शब्द की 'शक्ति' कहा जाता है। जिस पद में जिस अर्थ की शक्ति रहती है उस पद का वह अर्थ 'शक्य' है वही उस

पद का वाच्य या अभिधेय भी कहा जाता है। अतः जिस पद की शक्तिवृत्ति द्वारा जिस अर्थ का ज्ञान होता है, उसे उस पद का 'शक्यार्थ' कहते हैं और शक्यार्थ का ही नामान्तर वाच्यार्थ, अभिधेय अर्थ या मुख्यार्थ है। जैसे अग्नि पद में प्रज्वलित अङ्गाररूप अर्थ का बोध कराने की शक्ति है, इसलिये अग्नि पद का शक्यार्थ प्रज्वलित अङ्गार होता है और वही अग्नि पद का वाच्यार्थ अथवा अभिधेयार्थ भी कहा जाता है। शक्यार्थ अर्थात् वाच्यार्थ के साथ अन्य किसी वस्तु के सम्बन्ध को लक्षणा का स्वरूप अर्थात् सामान्य लक्षण कहा जाता है, जिसका नामान्तर 'लक्षणावृत्ति' है और जिस अर्थ ज्ञान का पद की शक्ति द्वारा न होकर पद की लक्षणावृत्ति के द्वारा होता है उस अर्थ को उस पद का 'लक्ष्यार्थ' कहा जाता है।

लक्षणा वृत्ति तीन प्रकार की है--जहत्-लक्षणा, अजहत्-लक्षणा और भागत्याग-लक्षणा, जिसे जहत्-अजहत्-लक्षणा भी कहते हैं। जहां किसी पद के वाच्यार्थ का सम्पूर्ण रूप से परित्याग करने पर ही उससे सम्बन्ध विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है, वहां उस सम्बन्ध को 'जहत्-लक्षणा' कहते हैं (जहत् शब्द त्यागार्थक 'हा' धातु के आगे 'शतृ' प्रत्यय होने से बना है जिसका अर्थ होता है जो त्याग कर रहा है, वह) जैसे गङ्गा में ग्राम है' कहने पर गङ्गा के जलप्रवाह में ग्राम का रहना असम्भव होने से जलप्रवाह का परित्याग करके जलप्रवाह के साथ तट का संयोग-सम्बन्ध लेकर, तट को ही लेना पड़ता है। यहां गङ्गा पद के जलप्रवाह रूप वाच्यार्थ का सम्पूर्ण रूप से परित्याग करने पर ही अर्थ सङ्गति होती है, अतः जहत्-लक्षणा द्वारा 'तट' अर्थ प्राप्त हुआ। यहां गङ्गा पद के वाच्यार्थ 'जल का प्रवाह' के साथ तीर का जो संयोग-सम्बन्ध है, वही लक्षणा हुआ और समग्रवाच्यार्थ का परित्याग करने के कारण 'जहल्लक्षणा' हुई। सुतरां जहां पद के वाच्यार्थ का बाध होता है, वहीं लक्ष्यार्थ का आश्रय लेना पड़ता है। जहां वाच्यार्थ का परित्याग न कर उसके साथ वाच्यार्थ के सम्बन्धी का ज्ञान होता है,

वहां उस सम्बन्ध को 'अजहत्-लक्षणा' कहते हैं। जैसे 'लाल दौड़ रहा है' कहने पर लाल रङ्ग का दौड़ना असम्भव होने से उस 'लाल' शब्द का वाच्यार्थ लालरङ्ग के साथ सम्बन्ध विशिष्ट लाल रङ्ग के घोड़े में 'लाल' शब्द की अजहत्-लक्षणा हुई। गुण और गुणी में तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है। लालवर्ण रूप विशेष होने से गुण पदार्थ ही है, अतः लाल पद के वाच्य लाल गुण का गुणी (आश्रय) अश्व के साथ जो तादात्म्य सम्बन्ध है, वही यहां 'लक्षणा' है। वाच्यार्थ लाल रङ्ग का त्याग न करके अश्व रूप अधिक अर्थ गृहीत हुआ है, अतः यहां 'अजहती लक्षणा' हुई।

जहां पद के समग्र वाच्यांश से एक अंश का त्याग और एक अंश का ग्रहण करना पड़ता है, वहां उस लक्षणा का नाम 'भागत्याग-लक्षणा' होता है। इसका नामान्तर 'जहत्-अजहत् लक्षणा' है। जैसे पूर्व दृष्ट किसी व्यक्ति को देखकर किसी ने कहा, 'यह वह है'। वहां 'वह' शब्द का अर्थ अतीतकाल तथा अन्य देश में अवस्थित अर्थात् 'परोक्ष' है। इसलिये अतीतकाल तथा अन्य देश के साथ व्यक्ति वहां 'वह' पद का वाच्यार्थ है और 'यह' शब्द का अर्थ वर्त्तमान काल तथा समीप अवस्थित अर्थात् अपरोक्ष वस्तु है, इसलिए वर्त्तमान काल तथा समीप देश के साथ व्यक्ति यहां 'यह' पद का वाच्यार्थ है। अतः 'यह वह है' इस समुदाय शब्द का अर्थ होता है अतीतकाल सहित तथा अन्य देश सहित व्यक्ति ही वर्त्तमानकाल सहित तथा समीप देश सहित व्यक्ति है। परन्तु यह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि अतीत और वर्त्तमान काल परस्पर विरोधी हैं और ये दोनों पद एक विभक्ति-युक्त अर्थात् प्रथमान्त रहने के कारण उस समान विभक्ति के बल से दोनों का सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध है अर्थात् दोनों एक ही वस्तु मालूम पड़ रहे हैं। उन दोनों की एकता प्रतीत होने पर भी वे विरोधी धर्मवान् है–एक परोक्ष और दूसरा अपरोक्ष है। सुतरां दोनों की एकता सम्भव नहीं इसलिये लक्षणा आवश्यक है। किन्तु पूर्वोक्त

'जहल्लक्षणा' या 'अजहल्लक्षणा' यहां नहीं घटती, क्योंकि 'जहल्लक्षणा' करने पर उस व्यक्ति को छोड़ना पड़ता है और 'अजहल्लक्षणा' करने पर तात्पर्यग्रहण असम्भव होता है, क्योंकि अतीत काल और अन्य देश उस व्यक्ति के साथ अब उपस्थित नहीं है। अतएव 'वह' पद का अर्थ जो परोक्षतासहित व्यक्ति और 'यह' पद का अर्थ जो अपरोक्षता सहित व्यक्ति उस दोनों से परोक्षता-अपरोक्षता भाग का परित्याग करके अर्थात् 'वह' और 'यह' इन दो पदों के वाच्य भाग में विशेषण रूप जो देश और काल के अंश हैं उन्हें त्याग कर उनके अविरोधीभाग 'व्यक्ति' मात्र का ग्रहण होता है अर्थात् उनमें जो विशेष्य भागद्वय (वस्तुभागद्वय) उनका 'वह' और 'यह' पद द्वारा ग्रहण होता है अर्थात् 'वह' पद का अर्थ जो उस काल तथा उस देश की वस्तु उसका ग्रहण नहीं होता और 'यह' पद का अर्थ जो इस काल तथा इस देश की वस्तु, उसका भी ग्रहण नहीं होता, अपितु काल तथा देश का त्याग करके 'वह' और 'यह' पद का अर्थ जो वस्तु भाग है, उसका ग्रहण होता है। यही 'भागत्याग लक्षणा' अथवा 'जहती-अजहती-लक्षणा' कही जाती है। इस परोक्षता तथा अपरोक्षता के साथ व्यक्ति का आश्रयता-सम्बन्ध है और अविरोधी, अंश व्यक्ति का अपने स्वरूप के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। सम्पूर्ण वाच्यभाग के साथ व्यक्ति का जो आश्रयता-तादात्म्य सम्बन्ध है, वही 'लक्षणा' है और यहां परस्पर विरोधी परोक्षता तथा अपरोक्षता रूप वाच्यभाग का त्याग तथा अविरोधी केवल व्यक्ति रूप वाच्य भाग का ग्रहण होने से यह 'भाग-त्याग-लक्षणा' है।

'तत्त्वमसि' "अयमात्मा ब्रह्म,' 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इन चार महावाक्यों में प्रथम वाक्य उपदेश वाक्य और शेष तीन अनुभव वाक्य हैं। प्रथम वाक्य में 'त्वं' पद का वाच्य जीव चेतन और 'तत्' पद का वाच्य ईश्वर चेतन है। द्वितीय वाक्य में 'आत्मा' पद का वाच्य जीवचेतन और 'ब्रह्म' पद का वाच्य ईश्वर चेतन है।

तृतीय वाक्य में 'अहं' पद का वाच्य जीव चेतन और 'ब्रह्म' पद का वाच्य ईश्वर चेतन है और चतुर्थ वाक्य में 'प्रज्ञानं' पद का वाच्य जीवचेतन और 'ब्रह्म' पद का वाच्य ईश्वर चेतन है। ईश्वर चेतन सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, विभु (व्यापक), ईश (सबका प्रेरक) स्वतन्त्र (कर्माधीन नहीं), परोक्ष (जीव के लिये प्रत्यक्ष का विषय नहीं) मायाधीश तथा बन्धमोक्ष रहित और जीव चेतन अल्पशक्ति, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न अनीश, कर्माधीन, प्रत्यक्ष (जीव और ईश्वर दोनों से ज्ञात) मायाधीन (अविद्या मोहित) और बन्धमोक्षविशिष्ट है। अतः इन दोनों की एकता सम्भव नहीं हो सकती। परन्तु महावाक्य सत्य हैं, सुतरां दोनों के विरोधी वाच्यार्थ भाग त्याग करके अविरोधी लक्ष्यार्थ चेतन भाग का ग्रहण करने पर एकता सम्भव होती है।

महा वाक्य में चैतन्यातिरिक्त इतर किसी का ग्रहण न होने से जहत्-लक्षणा असम्भव होती है, क्योंकि जहत्-लक्षणा में वाच्यार्थ का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर उस वाच्यार्थ के साथ सम्बन्धविशिष्ट किसी अन्य ज्ञेय वस्तु का बोध होता है। इसलिये महावाक्य में जहत्-लक्षणा स्वीकार करने पर वाक्यार्थ लब्ध चैतन्य से अन्य किसी ज्ञेय का बोध होगा। परन्तु चैतन्य से भिन्न वस्तु तो जड़ तथा दुःख स्वरूप होती है। उसे जान लेने पर पुरुषार्थ सिद्ध भी नहीं हो सकता। अतएव महावाक्य में जहल्लक्षणा नहीं हो सकती। महावाक्य में अजहल्लक्षणा करने पर जो वाच्यार्थ गृहीत होता है, उससे जीव चेतन तथा ईश्वर चेतन की एकता असम्भव होती है, क्योंकि अजहल्लक्षणा में वाच्यार्थ तो समग्र रहता ही है वल्कि वाच्यार्थ से अतिरिक्त विषय का भी ग्रहण होता है। अतः महावाक्य में अजहल्लक्षणा स्वीकार करने पर दोनों पदों के वाच्यार्थ जीव तथा ईश्वर सम्पूर्णतया गृहीत होते हैं परन्तु-वह वाच्यार्थ सर्वशक्ति, सर्वज्ञत्वादि धर्म सहित ईश्वर और अल्पशक्ति, अल्पज्ञत्वादि धर्म सहित जीव ये दो होने से महावाक्यों में विरोध होगा। उसे दूर करने के लिये लक्षणा स्वीकार करके जीवचेतन

और ईश्वर चेतन का लक्ष्य शुद्ध चैतन्य ही गृहीत होता है। किन्तु उसमें वाच्यार्थ जीव और ईश्वर गृहीत होने से अजहत्-लक्षणा स्वीकार करने पर भी महावाक्यों में विरोध रह ही जाता है। सुतरां अजहत-लक्षणा महावाक्य में ग्रहण नहीं की जाती। महावाक्यों में दो दो पदों के वाच्य जो जीव और ईश्वर हैं, उनसे अल्पज्ञत्वादि धर्म सहित उपाधि रूप विरोधि वाच्य भाग का त्याग करके उनमें जो एक अविरोधी, शुद्ध, असङ्ग चैतन्य मात्र हैं, लक्षणा द्वारा उसका ग्रहण होने पर दोनों की एकता सम्भव होती है। यह लक्षणा ही भाग त्याग लक्षणा कही जाती है।

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में माया, माया में अवस्थित चेतन का आभास और माया का अधिष्ठान चेतन--ये तीनों मिलित होकर सर्वशक्ति, सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त 'ईश्वर' होता है। यह ईश्वर ही 'तत्' पद का वाच्यार्थ है और अविद्या, उसमें स्थित चेतन का आभास और अविद्या का अधिष्ठान चेतन—ये तीनों मिलित होकर अल्पशक्ति अल्पज्ञत्वादि धर्म युक्त होकर 'जीव' संज्ञाको प्राप्त होते हैं। यह जीव ही 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है 'तत्वमसि' महावाक्य ईश्वर और जीव का एकत्व बोध कराता है, परन्तु वाच्यार्थ के अवलम्बन से एकता असम्भव होती है, अतएव आभास के सहित माया और मायाकृत सर्वशक्ति सर्वज्ञतादि धर्म--'तत्' पद के वाच्य अंश का परित्याग करके केवल चेतन भाग में 'तत्' पद की भागत्याग लक्षणा होती है अर्थात् 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ केवल चेतन भाग मात्र होता है। इसी प्रकार आभास सहित अविद्यांश और अविद्याकृत अल्प शक्ति, अल्पज्ञत्वादि धर्म 'त्वम्' पद के वाच्य अंश का परित्याग करके केवल चेतन भाग में 'त्वं' पद की 'भागत्याग लक्षणा' होती है अर्थात् 'त्वं' पद का लक्ष्यार्थ केवल चैतन्य मात्र है। इस प्रकार भागत्याग लक्षणा करने पर ईश्वर और जीव के स्वरूपभूत चेतन भाग की ही एकता को 'तत्वमसि' महावाक्य बोधगम्य कराता है।

'अयम् आत्मा ब्रह्म' इस महावाक्य में 'आत्मा' पद का वाच्य जीव और 'ब्रह्म' पद का वाच्य ईश्वर है (शुद्ध ब्रह्म नहीं)। 'तत्वमसि' वाक्य के समान यहां भी आत्मा और ब्रह्म इन दो पदों की चैतन्यमात्र में लक्षणा होती है। यहां लक्ष्यार्थ परोक्ष नहीं है उसका बोध कराने के लिये ही 'अयम्' शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् सबका अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है यही यहां महावाक्यार्थ है।

'अहं ब्रह्मास्मि' इसमहावाक्य में 'अहम्' पद का वाच्य जीव है और 'ब्रह्म' पद का वाच्य ईश्वर है। अहं और ब्रह्म इन दो पदों की चैतन्यभाग मात्र में लक्षणा होती है। इससे अहं और ब्रह्म पद का लक्ष्यार्थ होता है शुद्ध चैतन्यमात्र, और उनका अभेद ही है।

'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस महावाक्य में 'प्रज्ञान' पद का वाच्य जीव और 'ब्रह्म' पद का वाच्य ईश्वर है। यहां भी दोनों पदों की पूर्ववत् लक्षणा करके उनके लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य का अवलम्बन करके जीव और ब्रह्म का अभेद जानना चाहिये। यहां लक्ष्यभूत ब्रह्म अर्थात् शुद्ध चैतन्य आनन्दगुणविशिष्ट नहीं, अपितु आनन्द स्वरूप है, इस रहस्य का बोध कराने के लिये ही आनन्द शब्द का यहां प्रयोग किया गया है। आत्मा से अभिन्न ब्रह्म आनन्द स्वरूप है यही यहां महावाक्यार्थ है।

१३

श्रुति-प्रदर्शित साधना

पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त अन्तर्बहिर्भाव से स्थित सम्पूर्ण भूतों में से बाह्य-बाह्यभूतों को जानकर उन सबका निराकरण करते हुये, जो सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों से रहित साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर मुख्य आत्मा है और जो ब्रह्म लोकों का अन्तरतम सूत्र है, जिसकी कथा बृहदारण्यक-उपनिषद् के तृतीय अध्याय सप्तम ब्राह्मण में कही गई है— जिसे सुनकर अरुण-तनय सुप्रसिद्ध उद्दालक शान्त हो कर निवृत्त हो गया, "ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम'- वह अमृत अन्तर्यामी ईश्वर आत्मा ही विचित्रस्वभाव-विशिष्ट नाना प्रकार के नर-नारी के हृदय में भिन्न-भिन्न भावाकार-विशिष्ट एक ही इष्ट देवता है। वही शिव, दुर्गा, काली, तारा, राम, कृष्ण, सूर्य, गणनाथ आदि हैं। जगत् में जितने प्रकार के शरीर हैं, वे सब ही इस अज, एक, नित्यप्रभु का ही शरीर हैं। निखिल शरीरों में यही संचरण करता है—समस्त शरीरों के भीतर रह कर समस्त शरीरों का यही नियमन करता है, यही आमरण-धर्मी- अन्तर्यामी आत्मा है। यदि इसका अपने आत्मरूप से अनुभव न कर सको तथा शिव, दुर्गा, काली, तारा, राम, कृष्ण, सूर्य, गणपति आदि को यदि जगदात्मा (सर्व जीवों का आत्मा) न मान सको और न कह सको, तो तुम में भक्ति या ज्ञान का उदय कदापि न होगा। तुम मनःकण्डूयन लेकर ही रहोगे—मनः कल्पना की ही उपासना करोगे—सत्य अज, विभु, प्रभु आत्मा का सन्धान न पावोगे—नित्य सच्चिदानन्द घन ईश्वर की उपासना न कर पावोगे।

बृहदारण्यक श्रुति उपदेश करती है— सम्पूर्ण संसार के नर नारी जिसे पुकारते हैं, जिसके उद्देश्य से क्षमा–प्रार्थना करते हैं, जिसकी स्तुति-नति करते हैं, वही अमरणशील, अन्तर्यामी आत्मा है, वही श्री भगवान्, श्री प्रभु, श्री सच्चिदानन्दघन, क्षमासार श्री शंकर, श्री

नारायण, श्री दुर्गा हैं। यह पृथिवी में ओत-प्रोतभाव से रहकर भी पृथिवी से पृथक् है, इसे पृथिवी का अधिष्ठातृ देवता भी नहीं जानता। पृथिवी इस का शरीर है, यही पृथिवी देवता का नियमन करता है, यही तुम्हारा, मेरा, सब का आत्मा है, यही सर्व भूतों का अन्तर्यामी है और यही सर्व संसार धर्म विवर्जित अविनाशी आत्मा है।

यह परमदेव केवल पृथिवी में ही ओत-प्रोतभाव से विराज नहीं रहा है, परन्तु जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, स्वर्ग, सूर्य, दिशाओं, चंद्रमा, ताराओं, आकाश, अन्धकार और तेज में भी ओत-प्रोतभाव से विद्यमान है। इनमें रहकर भी इन सब से पृथक् है, इन सब के अधिष्ठाता देवगण इसे जान नहीं सकते, जल, अग्नि, तेज आदि इस महादेव के शरीर हैं, इन शरीरों के भीतर रह कर यह परमदेव इन का नियमन करता है। यही तुम्हारा, मेरा, सर्वभूतों का आत्मा है, यही सर्व संसारधर्मवर्जित अविनाशी अन्तर्यामी है। यह परमपुरुष ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त निखिल भूतों में रहकर भी समस्त भूतों से पृथक् है, इसे कोई भूत जानता ही नहीं, समस्त भूत इसका शरीर है और यह समस्त भूतों के भीतर रहकर उनका नियमन करता है, यही सब का अन्तर्यामी अविनाशी आत्मा है— "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो, यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष स आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः"।

अधिकंतु यह परम पुरुष ही प्राण, वाणी, चक्षु, कर्ण, मन, त्वक् बुद्धि और वीर्य में रह कर भी इन सब से भिन्न है, ये सब इसे नहीं जानते, यह परमपुरुष इन सब के भीतर रहकर इनका नियमन करता है, यही आत्मा अन्तर्यामी और अमरणधर्मी है।

क्यों आत्मा को जाना नहीं जाता ? यतः यही सर्ववस्तु का दृष्टा है, इस अन्तर्यामी से भिन्न कोई और दृष्टा नहीं—"नान्योऽतोऽ-

स्ति द्रष्टा"—और इसका स्वभाव असङ्ग है—"असंगो ह्ययं पुरुष":—इस कारण यह परम पुरुष किसी का भी दृष्टि पथगामी नहीं होता। यह परमपुरुष समस्त शब्द सुनता है, किन्तु इसे कोई नहीं सुन सकता; निखिल विषयों का मनन करनेवाला यही पुरुष है, परन्तु इसे कोई मनन नहीं कर सकता; यह सब कुछ जानता है परन्तु इसे कोई नहीं जानता, क्योंकि इस अन्तर्यामी आत्मपुरुष से भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता ही नहीं है—इस कारण आत्मा अपने से अतिरिक्त और किसी से दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात नहीं होता—तुम्हारा, मेरा और सबका अन्तर्यामी यह परमपुरुष ही अमरणधर्मी, नित्य, अविनाशशील है। इस सम्पूर्ण संसार-धर्मों से रहित एवं समस्त संसारियों के कर्मफलों का विभाग करने वाले ईश्वर आत्म-पुरुष से भिन्न और जो कुछ देखा, सुना या मनन किया जाता है, आर्त्त है—नश्वर है विनाशी है—"अतोऽन्यदार्त्तम्"।

जो अमृत, नित्य, अविनाशी श्री पुरुषोत्तम जगत् के सम्पूर्ण नर-नारियों में स्थावर, अस्थावर सम्पूर्ण वस्तुओं में अपनी परमशक्ति लेकर लीलारत है, जो श्री पुरुषोत्तम अपनी ज्योति से जगत् को प्रकाशित कर रहा है, जिसके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशमान है—"तमेव भान्तमनुभातिसर्वं, तस्य भातासर्वमिदं विभाति"—वही अग्नि, जल, ओषधी, वनस्पति एवं त्रिभुवनों में प्रवेश करके विराज रहा है। जिस अक्षर श्री पुरुषोत्तम में द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और प्राणों यानी समस्त इन्द्रियों के साथ मन ओत (समर्पित) है, उस एक अद्वितीय आत्मा को अपना और समस्त प्राणियों का प्रत्यक् स्वरूप जान कर सर्वत्र स्मरण करो और अपराविद्या रूप सब बातों को तथा उससे प्रकाशित होने वाले समस्त कर्मों को उसके साधन सहित त्याग कर दो, क्योंकि यह आत्मज्ञान संसार महासागर को पार करने का महा-साधन होने के कारण मोक्ष की प्राप्ति के लिए नदी के पार जाने के साधनभत सेतु के समान सेतु है, जैसा कि कहा गया है—"तमेव

विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"—उसी को प्रत्यग्रूप से जानकर मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है, उसकी प्राप्ति का इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है—"यस्मिन् द्यौः पृथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः" ॥

यह श्री पुरुषोत्तम ही तो आत्मरूप से हमारे भीतर सदा प्रकाश पा रहा है। देह, चक्षु, कर्ण, मन और बुद्धि में जो 'अहं' और 'मम' भाव है यही 'अध्यास' है। इसे निरस्त करने मात्र से ही आत्म भाव में स्थिति हो जायगी। स्वर्ग, अन्तरिक्ष, पृथिवी आदि सब में एक मात्र वह आत्म-चैतन्य ही प्रकाश पा रहा है। यही वरणीय भर्ग है, ब्रह्म है। इसी ज्योति का ध्यान स्मरण सर्वदा करो, अध्यास कहीं विलीन हो जायगा—"अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि। अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा ब्रह्म निष्ठया॥" अपना आत्मा ही तो सर्वव्यापी है, क्योंकि बुद्धि विषयाकार में आकारित होकर ही जगत् रूप से भास रही है अतः 'मैं बुद्धि और बुद्धिवृत्ति का दृष्टा हूं' ऐसा निश्चय करके अन्यत्र आत्मबुद्धि त्याग दो—"ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धि तद्वृत्ति साक्षिणम्। सोऽहमित्येव तद्वृत्त्या स्वान्यत्राऽऽत्ममतिं त्यजेत्॥" आत्मातिरिक्त में आत्ममति त्यागने के लिये लोगों के पीछे कुत्ते की तरह दौड़ना अर्थात् लोकानुवर्त्तन, देहानुवर्त्तन और शास्त्रानुवर्त्तन त्याग कर अध्यास को दूर करो—"लोकानुवर्त्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्त्तनम्। शास्त्रानुवर्त्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु॥" तभी आत्मरूप से नित्य विराज सकोगे। इसी रीति से ही योगीजन मनोनाश करते हैं। अपने मन में युक्तियों से आत्मा का विचार करो, सत्शास्त्र से आत्म कथा का श्रवण करो और महावाक्यजनित सूक्ष्मपदार्थग्रहण-समर्थ बुद्धि द्वारा अपने आत्मा को सर्वभूतान्तरात्मा श्री पुरुषोत्तम रूप से अनुभव करके जानो—सभी आत्ममय भासने लगेगा—"स्वात्मन्येव सदा स्थित्वा मनो नश्यति योगिनः। युक्त्या श्रुत्या

स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मना ॥" यह जो सर्व प्राणियों की प्रतीति का साक्षिस्वरूप परमात्मा है, जो 'नेति-नेति' रूप से कहा गया है जिससे भिन्न और कोई द्रष्टा, श्रोता, मननकर्त्ता या विज्ञाता नहीं है, और जो सर्ववैषम्यवर्जित तथा सर्वभूतस्थ, नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त स्वभाव है, तत्-स्वरूप ही मैं हूं--इस रीति से स्वात्मा को जानकर जीव कृतकृत्य हो जाता है ।

देहत्रय-शोधन

स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीन देह तथा आत्मा—इन चारों से ही जीव का जीवत्व है—"पञ्चकोषेषु शक्तिर्मे तथा तिष्ठति नित्यशः। न पश्यन्ति तु तां शक्तिं अज्ञानोपहता नराः। यावतीं प्रौढ़तां याति साधकः साधका-ध्वनि। तावत् स पञ्चकोषाणां साहाय्यात् मां प्रपद्यते॥ यदा कुण्डीलनीशक्ति राविर्भवति साधके। तदा स पञ्चकोषे मत्तेजो-ऽनुभवति ध्रुवम्"॥ (सूर्यगीता)। स्थूल देह के भीतर सूक्ष्म देह, सूक्ष्म देह के भीतर कारण देह और कारण देह के भीतर आत्मा विराजमान हैं, अतः ये तीनों देह जीवात्मा के आधार हैं। स्थूल देह स्थूल पञ्चभूतों से, सूक्ष्मदेह सूक्ष्म पचभूतों तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार इस अन्तःकरणचतुष्टय से और कारण-देह सत्त्व, रज तथा तम इन तीन गुणों से गठित हैं। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। निर्मल जल मलिन पात्र में रखने पर मलयुक्त हो जाता है, अतः उसके पान से तृप्ति नहीं होती। निर्मल अग्नि शिखा मलिन कांच से आवृत रहने पर ठीक प्रकाश नहीं दे सकती। प्रखर किरण सूर्य के मेघ द्वारा ढंक जाने पर उसके ताप तथा ज्योति का ह्रास होता है। मृत्तिका का उपलेप रहने पर मणि की ज्योति नहीं चमकती। इसी प्रकार आत्मा स्वयं निर्मल, अनश्वर (सत्), ज्ञानमय (चित्) आनन्दमय होकर भी त्रिविध देहरूप पात्र अथवा आवरण के दोष से मलयुक्त, नश्वर, अज्ञ और दुखी-सा प्रतीत होता है। अतः इस त्रिविध देह को निर्मल स्वच्छ कर सकने अथवा दूर कर सकने पर ही आत्मा स्वमहिमा में अभेदरूप से उपलब्ध होता है।

स्थूल देह अन्नमय कोश है जो अन्नरस से उत्पन्न होकर अन्नरस से ही वर्द्धित होता है, अन्त में पृथिवी में लय को प्राप्त हो जाता

है, वह 'अन्नमय कोष' कहा जाता है। यही स्थूल शरीर है। इसे 'भूतात्मा' भी कहते हैं। पृथ्वी रूप भूत इसका अधिपति है। क्षिति, जलादि भूतस्वरूप मांस रक्तादि की अपकृष्टता, आधिक्य अथवा अल्पतासे अस्वास्थ्य, किसी अङ्गकी अपटुता, वायु, पित्त, कफ के प्रकोपादि से रोग, जड़ता, अविशुद्ध अन्नग्रहण, नश्वर स्थूल भोग्य विषय और व्यापार में रतता प्रभृति स्थूल देह की मलिनता के कारण हैं और मोहवश दैवकर्म को असार एवं वृथा समझ कर स्थूल देह से बाह्य पूजादि न करना इसकी प्रधान मलिनता है। यह स्थूल देह निरामय, पटु, कर्मठ, विशुद्ध-अन्न-श्रित, स्थूल विषयों तथा व्यापार से विरत और दैवकर्मों में निरत रहने पर स्थूल देह विशुद्ध होता है। उसके अनन्तर ज्ञानेन्द्रियों के भीतर होकर जब आत्म ज्योति बाहर होती है अर्थात् सब ज्ञानेन्द्रियों से जब आत्मा की उपलब्धि होती रहती है और सब कर्मेन्द्रियाँ जब आत्मा के उद्देश्य से ही कर्म करती हैं तब स्थूल देह सम्पूर्ण शुद्ध और स्वच्छ हुआ समझा जाता है। उसके बाद जब योगी स्थूल देह को भूल जाता है, तब उसका आवरण भग्न हो जाता है।

सूक्ष्म देह मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय इस प्रकार तीन कोशों से बना है। प्राणादि चतुर्दशवायु 'प्राणमय कोश' है। ये अन्नमय कोश में रहकर चतुर्दश इन्द्रियों को चलाते हैं। यह इन्द्रियात्मा कहा जाता है। प्राण इसका अधिपति है—"प्राणादि चतुर्दश वायुभेदा अन्नमय कोशे यदा वर्त्तन्ते, तदा प्राणमयः कोश इत्युच्यते" (सर्वसारोपनिषद्) 'सुबालोपनिषद्' के नवमखण्ड में कहा गया है कि प्राण नेत्र का, अपान कर्ण का, व्यान नाक का, उदान जिह्वा का, समान त्वक् का, वैरम्भ वाक्य का, मुख्य हस्त का, अन्तर्याम पाद का, प्रभञ्जन पायु का, कुमार लिङ्ग का, श्येन मन का, कृष्ण बुद्धि का, श्वेत अहङ्कार का और नाग चित्त का चालक है। आत्मा चौदह इन्द्रियों से जब शब्दादि विषयों का संकल्प करता है, तब 'मनोमय कोश' का प्रकाश होता है। यह

'सङ्कल्पात्मा' कहा जाता है। मन इस का अधिपति है। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों का ज्ञान जिस से होता है, वह 'विज्ञानमय कोश' है। यह 'कालात्मा' कहा जाता है। बुद्धि इसकी अधिष्ठात्री है। प्राण, मन और विज्ञान इन तीन कोशों का सूक्ष्म देह है। मन में शोक, भय, उद्वेग, अशान्ति, कुभाव, विषयभोग–स्पृहा, स्वप्न दर्शन के समान विचित्र वैषयिक चिन्तन सर्वदा बाह्य व्यापार साधन के सङ्कल्प और अनुसन्धान प्रभृति के रहने पर बुद्धि द्वारा स्थूल विषय को ही प्राप्य और भोग्य निश्चय करने पर देहादि स्थूल पदार्थों को ही अहंरूपेण निश्चय कर लेने पर, प्राण वायु की क्रियाओं द्वारा अन्तःकरण के उक्त प्रकार के उद्देश्य साधन में सहायता करते रहने पर और सर्वदा वाह्य जगत् का ज्ञान रहने पर सूक्ष्म देह को मलिन जानना चाहिये। सुतरां मन के प्रसन्न, प्रशान्त, निर्भय, निरुद्वेग, सद्भावापन्न विषय--वितृष्ण, निरालम्ब अथवा आत्मादि सूक्ष्म विषयों के लाभ में उत्सुक और अनुसन्धित्सु रहने पर, बुद्धि द्वारा एक मात्र आत्मा के प्राप्य और सुखप्रद निश्चय किये जाने पर, 'देहादि में नहीं हूँ' ऐसी धारणा होने पर आत्मा की प्राप्ति के लिए प्राण के सर्वदा यत्न शील रहने पर और अन्तर्जगत् का ज्ञान प्रकाशित होने पर सूक्ष्म देह शुद्ध हो रहा है ऐसा समझना चाहिए। इसके अनन्तर अन्तःकरण और प्राण में आत्म ज्योति के प्रतिफलित होने अर्थात् आत्मप्राप्ति के निमित्त मन के उत्सुक और अनुसन्धित्सु होने पर सभी अवस्थाओं में आत्मा का ज्ञान रहने पर आत्माको स्वात्मस्वरूप से धारणा करने पर और सर्वावस्थाओं में आत्मप्राप्ति का प्रयत्न रहने पर सूक्ष्म देह को सम्पूर्णतया शुद्ध और स्वच्छ समझना चाहिए। इसके उपरान्त जब योगी को सूक्ष्म देह की भी विस्मृति होती है, तब इस आवरण का भङ्ग होता है।

कारण देह त्रिगुणमय है—"गुणत्रय युक्तं कारणम्" (योग चूड़ामण्युपनिषत्)। यह आनन्दमय कोश है। जो बीज की तरह भीतर रह कर सूक्ष्म और स्थूल देह में आनन्द का सञ्चार करता है, वह

'आनन्दमय' कोश है। यह 'लयात्म' कहा जाता है। अविद्या इसकी अधिष्ठात्री है —"एतत् कोश चतुष्टय संसक्तं स्वकारणज्ञाने वटकणिकायाम् इव वृक्षो यदा वर्त्तते तदा आनन्दमयः कोश इत्युच्यते" (सर्वसारोपनिषद्)। इसकी सत्ता से स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों में आनन्द प्राप्त होता है। यह स्थूल और सूक्ष्म देहों की उत्पत्ति तथा स्थिति का कारण है। स्थूल और सूक्ष्म देहों का उपादान इसमें बीज रूप से रहता है। यह इतना सूक्ष्म है कि इसकी वस्तुसत्ता बोधगम्य नहीं होती, अतः यह गुणरूप से ही प्रतीयमान होता है। सत्त्व, रज और तम (सत्त्व=ज्ञान और आनन्द, रज= कर्म प्रवृत्ति और दुख तथा तम=मोह और जड़ता) ये तीन गुण स्वभावतः अविद्या से आच्छन्न रहते हैं, अतएव जीव स्थूल अथवा सूक्ष्म विषय को जानता और उसमें आनन्द पाता है, स्थूल अथवा सूक्ष्म व्यापार में लिप्त रहता है, दुख पाता है और आत्मज्ञान के विषय में उसको मोह अथवा आवरण और जड़ता रहती है। यह मलिन कारण देह है। श्री गुरु के विद्यायुक्त अव्यक्त और निर्मल कारण देह का अंश जब शिष्य में प्रवेश करता है तब उससे शिष्य का कारण देह निर्मल होता है। जब विद्या में प्रबल रुचि होती है, आत्मा ही एक मात्र ज्ञान और आनन्द का विषय होता है, आत्म प्राप्ति में ही एकमात्र प्रवृत्ति (चेष्टा) होती है, आत्मा विषय-युक्त होते ही दुःख बोध होता है और स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों में मोह, आवरण और जड़ता रहती है, तभी कारण देह निर्मल हुआ समझा जाता है। जब मन में आत्म ज्योति प्रतिफलित होती है अर्थात् जब अविद्या, सत्त्व, रज और तम सभी आत्म रूप से भासते हैं, तब कारण देह पूर्ण रूपेण स्वच्छ हुआ समझा जाता है। इसके उपरान्त जब समाधि में योगी के कारण—देह की भी विस्मृति हो जाती है, तब वह आवरण भग्न हो जाता है।

लयचिन्तन

प्रपञ्च के कारणीभूत ईश्वर में कार्य के लयचिन्तन द्वारा आत्मा का स्वरूप चिन्तनीय है। जिस प्रकार मृत्तिका के कार्यसमूह के भीतर और बाहर सर्वत्र मृत्तिका ही रहती है, सुतरां मृत्तिका का समस्त कार्य मृत्तिका स्वरूप ही होता है, जिस प्रकार फेन प्रभृति जल कार्य जल स्वरूप ही होते हैं, उसी प्रकार जो जिसका कार्य होता है वह अपने कारण स्वरूप से पूर्णतया भिन्न नहीं होता, अपितु कार्य ही कारण स्वरूप होता है। सकल प्रपञ्च का मूल कारण ईश्वर है, सुतरां समस्त कार्य प्रपञ्च ईश्वर स्वरूप से भिन्न नहीं है, अपितु समस्त प्रपञ्च का मूल स्वरूप ईश्वर ही है। 'वह ईश्वर मैं ही हूं' यह लयचिन्तन का प्रकार है।

लयचिन्तन का क्रम संक्षेप से इस प्रकार है—स्थूल ब्रह्माण्ड समस्त पञ्चीकृत भूतों का कार्य है। उनमें जो पृथिवी का कार्य है वह पृथिवी स्वरूप है, जो जल का कार्य है वह जल स्वरूप है। इस प्रकार तत्तत् पञ्चीकृत भूतों का कार्य तत्तद्भूतस्वरूप है। सुतरां समस्त स्थूल ब्रह्माण्ड पञ्चीकृत भूतस्वरूप है। इस रीति से पञ्चीकृत भूतवर्ग भी अपञ्चीकृत भूतसमूह का कार्य है। सुतरां पञ्चीकृत भी अपञ्चीकृत भूतस्वरूप ही है, उससे भिन्न और कुछ नहीं है। अन्तःकरण प्रभृति सूक्ष्म सृष्टि भी अपञ्चीकृत भूतवर्ग का कार्य है, सुतरां वह भी तत्स्वरूप है। उनमें—

अन्तःकरण	समग्र भूतों के		सत्त्वगुण	का	कार्य है	सुतरां	सत्त्वगुणस्वरूप है।
प्राण	,,	,,	रजोगुण	,,	,,	,,	रजोगुणस्वरूप है।
पायु (इन्द्रिय)	पृथिवी के		,,	,,	,,	,,	पृथिवीस्वरूप है।
घ्राण	,,	,,	सत्त्वगुण	,,	,,	,,	सत्त्वगुणस्वरूप है।

रसना „ जल के „ „ „ „ जल स्वरूप है।
उपस्थ „ „ „ रजोगुण „ „ „ रजोगुण स्वरूप है।
पाद „ तेज के „ „ „ „ तेज स्वरूप है।
नेत्र „ „ „ सत्त्वगुण „ „ „ सत्त्वगुण स्वरूप है।
त्वक् „ वायु के „ „ „ „ वायु स्वरूप है।
पाणि „ „ „ रजोगुण „ „ „ रजोगुण स्वरूप है।
वाक् „ आकाश के „ „ „ „ आकाश स्वरूप है।
श्रोत्र „ „ „ सत्त्वगुण „ „ „ सत्त्वगुण स्वरूप है।

इस तरह ग्यारहों इन्द्रियाँ अर्थात् समस्त सूक्ष्म सृष्टि अपञ्चीकृत-भूत स्वरूप है और प्रकृति के सत्त्वरजोगुण स्वरूप हैं।

पूर्वोक्त रीति से लयचिन्तनपूर्वक अपञ्चीकृत भूतों का भी लयचिन्तन इस प्रकार करना चाहिए—

पृथिवी जल का कार्य है, सुतरां जल स्वरूप है।
जल तेज का „ „ तेजःस्वरूप है।
तेज वायु का „ „ वायु स्वरूप है।
वायु आकाश का „ „ आकाशस्वरूप है।

आकाश तमोगुण प्रधान प्रकृति का कार्य है, सुतरां प्रकृति स्वरूप है। प्रकृति माया की ही अवस्था विशेष है, सुतरां माया स्वरूप है। एक ही वस्तु के कार्यभेद से प्रधान, प्रकृति, माया, अज्ञान, अविद्या और शक्ति ये भिन्न भिन्न नाम हैं। फिर भी इन में विशेषता यह है—प्रलय-काल में निखिल कार्य वस्तु को स्वस्वरूप में लीन करके स्थित उदासीन स्वरूप 'प्रधान' कहा जाता है। जगत् का बीज जिसमें आहित होता है, वह प्रधान है। सृष्टि का उपादान होने के योग्य तमोगुण प्रधान स्वरूप 'प्रकृति' कहा जाता है। जिस प्रकार देशकालादि निरपेक्ष होकर इन्द्रजाल द्वारा दुर्घट वस्तु-समूह उत्पन्न होता है और वहां इन्द्रजाल को माया कहते हैं, उसी प्रकार असङ्ग और अद्वितीय ब्रह्म में इच्छादि वस्तुयें दुर्घट होने पर भी उन्हें जो उत्पन्न करता है उसे 'माया' कहते

हैं। स्वरूप के आच्छादक का नाम 'अज्ञान' है। वह ब्रह्मविद्या के द्वारा विनष्ट होता है, इसलिये 'अविद्या' कहा जाता है। चैतन्य का आश्रय लिये बिना वह स्वतन्त्र कदापि नहीं रहता, इसलिए वह 'शक्ति' भी कहा जाता है। इस प्रकार प्रकृति प्रभृति प्रधान के ही भेद हैं, अतः वे प्रधान स्वरूप हैं। वह प्रधान ब्रह्मचैतन्य की शक्ति मात्र है। जिस प्रकार पुरुष की सामर्थ्यरूप शक्ति पुरुष से भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार निखिल अनात्मपदार्थ ब्रह्म भिन्न नहीं हैं। उन अनात्मपदार्थों का ब्रह्म में लयचिन्तन पूर्वक 'वह अद्वितीय ब्रह्म में ही हूं' इस प्रकार चिन्तन अर्थात् ध्यान करना चाहिये। जिस पुरुष को महावाक्य-विचारपरायण रहने पर भी, बुद्धि की मन्दता आदि प्रतिबन्धकों के कारण अपरोक्षज्ञान नहीं होता, उसके लिये यह लयचिन्तनरूप-ध्यान उपदिष्ट हुआ है। निरन्तर ध्येयाकार चित्तवृत्ति 'ध्यान' कही जाती है। ध्येयस्वरूप का ध्यान कर्ता द्वारा निजस्वरूप से अभिन्न चिन्तन 'अहङ्ग्रह ध्यान' कहा जाता है। जिसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ, परंतु वेदाज्ञारूप विधि में विश्वास रखकर जो बलपूर्वक निरन्तर 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार वृत्ति की स्थिरतारूप 'अहङ्ग्रह ध्यान' करता है उसको भी ज्ञान प्राप्ति होकर अर्थात् ज्ञानरूप अन्तःकरण वृत्ति द्वारा आवरणभङ्ग होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रणव-चिन्तन द्वारा निर्गुण ब्रह्मोपासना

(१)

पदार्थमात्र के 'नाम' और 'रूप' दो अंश हैं, 'रूप' अंश 'नाम' अंश से प्रथक् नहीं, अपितु रूपभाग नामस्वरूप ही होता है, क्योंकि पदार्थ के 'रूप' का अर्थ आकार है। रूप नाम द्वारा निरूपित होकर गृहीत अथवा व्यक्त होता है। नाम का ज्ञान रहने पर केवल आकार द्वारा व्यवहार सिद्ध नहीं होता। अतएव नाम ही सार वस्तु है। अधिक क्या, आकार का नाश होने पर भी नाम वैसे ही शेष रह जाता है जैसे घट का नाश होने पर भी मृत्तिका अवशिष्ट रहती है। वहाँ घट मृत्तिका से पृथक् वस्तु नहीं है, किन्तु मृत्तिका-स्वरूप ही है, उसी प्रकार आकार का नाश होने पर भी नाम मृत्तिका के समान अवशिष्ट रहता है। उस से आकार पृथक् नहीं, परन्तु नामस्वरूप ही आकार होता है। अथवा जिस प्रकार घट आदि में मृत्तिका अनुगत भाव से रहती है और घट शरावादि परस्पर व्यभिचारी होते हैं अर्थात् घट शराव नहीं है और शराव घट नहीं है, सुतरां, घट, शरावादि मिथ्या है, उनमें अनुगत मृत्तिका ही सत्य है। उसी प्रकार घट के आकार अनेक होते हैं, परन्तु आकारों में भेद रहने पर भी उन का 'घट' यह नाम एक ही होता है। वे आकार भी परस्पर व्यभिचारी हैं, किन्तु समस्त घटों के आकारों में एक ही घट नाम अनुगत रहता है। सुतरां मिथ्या आकार सत्य नाम से प्रथक् नहीं है। इस रीति से ज्ञात हुआ कि निखिल पदार्थों का आकार मिथ्या होने से वे अपने अपने नाम से भिन्न नहीं हैं, अर्थात् प्रथक् सत्तावान नहीं है, आकार नाम का स्वरूप ही होता है। इसी तरह सभी नाम ओङ्कार से भिन्न नहीं, किन्तु नाम ओङ्कार का स्वरूप है। इस का कारण यह है कि वाचक शब्द नाम कहा जाता है। लौकिक तथा वैदिक समस्त शब्द ओङ्कार से ही उत्पन्न हुये हैं यह बात श्रुति म प्रसिद्ध है। सभी कार्य

कारण स्वरूप ही हैं। अतः प्रणव के कार्यवाचक शब्द रूप नाम भी प्रणव स्वरूप ही हैं। इस रीति से पदार्थ समूह के रूप पदार्थ के आकार मात्र हैं, वे नाम स्वरूप ही हैं और सब नाम भी ओङ्कार स्वरूप हैं, इसलिये ओङ्कार सर्वस्वरूप है।

जिस प्रकार सब का स्वरूप प्रणव है, उसी प्रकार सर्वस्वरूप ब्रह्म ही है, सुतरां ओङ्कार ब्रह्मस्वरूप है। अथवा प्रणव ब्रह्म का वाचक और ब्रह्म वाच्य हैं। वाच्य और वाचक का अभेद होने के कारण ओङ्कार ब्रह्मस्वरूप है। विचार दृष्टि से देखने पर जो अक्षर ब्रह्म में अध्यस्त है, उस का अधिष्ठान ब्रह्म है। अध्यस्त का स्वरूप अधिष्ठान से पृथक् नहीं होता। इसलिये भी ओङ्कार ब्रह्मस्वरूप है। अतएव उसका ब्रह्म-रूप से ध्यान करना चाहिये। ब्रह्मस्वरूप ओङ्कार का आत्मा से अभिन्न-रूप से ध्यान करना चाहिये, क्योंकि आत्मा से ब्रह्म अभिन्न है, साथ ही ब्रह्म के चार पाद के समान आत्मा के भी चार पाद हैं। पाद या मात्रा का अर्थ स्पन्दनरूप शक्तिप्रवाह का परिमापक तारतम्य है। विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तत्पद का लक्ष्य ईश्वरसाक्षी—ये ब्रह्म के चार पाद हैं। ईश्वर साक्षी तुरीयब्रह्म कहा जाता है। विश्व, तैजस प्राज्ञ और त्वं-पद का लक्ष्य जीवसाक्षी, ये आत्मा के चार पाद हैं। जीव-साक्षी तुरीय कहा जाता है।

समष्टि स्थूल प्रपञ्चसहित चैतन्य 'विराट्' और व्यष्टि स्थूल-शरीराभिमानी 'विश्व' कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार 'हिरण्यगर्भ' समष्टि और 'तैजस' व्यष्टि होता है एवं 'ईश्वर' समष्टि तथा 'प्राज्ञ' व्यष्टि होता है। विराट् तथा विश्व की उपाधि स्थूल है, सुतरां विश्व भी विराट् स्वरूप है—वह विराट् से पृथक् नहीं है। हिरण्यगर्भ और तैजस की उपाधि सूक्ष्म तथा ईश्वर एवं प्राज्ञ की उपाधि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अर्थात् कारणरूप है। अतएव हिरण्यगर्भ और तैजस ईश्वर तथा प्राज्ञ से पृथक् नहीं है और ईश्वर तथा प्राज्ञ तुरीय से पृथक नहीं है, क्योंकि यहां उपाधि ही भेद का कारण है। जैसे विराट के साथ विश्व

का अभेद है, उसी प्रकार ओङ्कारके प्रथम भाग अ कार का और विराट-स्वरूप विश्व का अभेद है क्योंकि ब्रह्म के चार पादों में विराट् ही प्रथम पाद है और आत्मा के चार पादों में विश्व ही प्रथम पाद है। इसी प्रकार ओङ्कार के मात्रारूप चार पादों में अकार ही प्रथम पाद हैं। सुतरां तीनों में 'प्रथमता' रूप धर्म के समान होने से विश्व, विराट् और अकार का अभेद चिन्तन करना चाहिये।

जैसे विश्व और विराट अभिन्न हैं, वैसे ही तैजस को हिरण्यगर्भ रूप जानना चाहिये, क्योंकि तैजस और हिरण्यगर्भ की उपाधि सूक्ष्म है, अतः दोनों अभिन्न हैं। तैजस और हिरण्यगर्भ का अभेद जानकर ओङ्कार की द्वितीय·मात्रा उकार के साथ उनका अभेद चिन्तन करना चाहिये, क्योंकि आत्मा के चार पादों में द्वितीय पाद तैजस है, ब्रह्म के चार पादों में हिरण्यगर्भ द्वितीय है और ओङ्कार की चार मात्राओं में 'उकार' द्वितीय मात्रा है। 'द्वितीयता' धर्म तीनों का समान होने से उनका अभेद चिन्तनीय है।

प्राज्ञ को ईश्वर रूप जानना चाहिये, क्योंकि प्राज्ञ की उपाधि 'कारणशरीर है और ईश्वर की उपाधि भी 'कारणशरीर' है। ईश्वर और प्राज्ञ ब्रह्म और आत्मा के पादों में तृतीय हैं। ओङ्कार की तृतीय मात्रा मकार है। 'तृतीयता' तीनों में समान है, अतः इन तीनों का भी अभेद समझना चाहिये।

विश्व की स्थूल, सूक्ष्म और अज्ञान यह तीन उपाधियां हैं, तैजस की सूक्ष्म और अज्ञान यह दो उपाधियां हैं और प्राज्ञ की एकमात्र अज्ञान ही उपाधि है। इस प्रकार उपाधि के न्यूनाधिक्य के कारण इनका भेद होता है। पारमार्थिक स्वरूप से इनका कुछ भी भेद नहीं है। विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों में अनुगत भाव से चैतन्य विद्यमान है। उस चैतन्य के साथ उपाधियों का वस्तुतः किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। तीनों उपाधियों का अधिष्ठान तुरीय चैतन्य है। वह तुरीय बहि-प्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ किंवा प्रज्ञानघन कुछ भी नहीं है। वह कर्मेन्द्रिय अथवा

ज्ञानेन्द्रिय का विषय नहीं है। बुद्धि अथवा किसी भी शब्द का विषय नहीं है। इस प्रकार तुरीय को परमात्मा का चतुर्थ पाद, ईश्वर साक्षी या ब्रह्म स्वरूप जानना चाहिए।

आत्मा का स्वरूप और दो प्रकार का कहा गया है--परमार्थरूप और अपरमार्थरूप। उनमें प्रथम तीन पाद अपरमार्थ और तुरीय या चतुर्थ-पाद परमार्थरूप है। आत्मा के समान ओङ्कार के भी दो स्वरूप हैं। उनमें अकार-उकार-मकार रूप मात्रात्रयात्मक वर्ण अपरमार्थ रूप और उस मात्रात्रय में व्यापक अस्ति, भाति, प्रिय रूप अधिष्ठान-चैतन्य परमार्थ रूप है। ओङ्कार के परमार्थ रूप को ही श्रुति में 'अमात्र' कहा गया है क्योंकि उस परमार्थ रूप में मात्रा का विभाग नहीं है, सुतरां वह अमात्र है। इस प्रकार परमार्थ और अपरमार्थ इन दो स्वरूपों से विशिष्ट ओङ्कार का तादृश द्विविधस्वरूपविशिष्ट आत्मा के साथ अभेद जानना चाहिये। व्यष्टि और समष्टि स्थूल प्रपञ्च सह विश्व और विराट् का अकार के साथ अभेद चिन्तन करना चाहिए। आत्मा के पादों में 'विश्व' आदि पाद है और ओङ्कार की मात्राओं में 'अकार' आदि पाद हैं। सुतरां दोनों को अभिन्न जानना चाहिए। हिरण्यगर्भ अथवा तैजस सूक्ष्म प्रपञ्च सहित होता है। उन दोनों को उकार रूप जानना चाहिये। तैजस और उकार दोनों द्वितीय हैं, सुतरां दोनों ही अभिन्न हैं। कारण नामक उपाधि सहित ईश्वर और प्राज्ञ को मकार स्वरूप जानना चाहिये। ईश्वर, उसका व्यष्टि रूप प्राज्ञ तथा मकार तीनों तृतीय हैं, सुतरां वे तीनों अभिन्न हैं। उन तीनों में अनुगत भाव से उपस्थित परमार्थ रूप अमात्र से अभिन्न को ओङ्कार की तीनों मात्राओं में अनुगतरूप से उपस्थित परमार्थ रूप समझना चाहिये। जिस प्रकार विश्वादि में तुरीय अनुगत है, उसी प्रकार अकारादि तीनों मात्राओं में अमात्र भी अनुगत है। सुतरां तुरीय और ओङ्कार के अमात्र रूप को अभिन्न समझना चाहिय। इस प्रकार आत्मा ओङ्कार के पाद और मात्राओं के अभिन्न बोध से लयचिन्तन करना चाहिये।

विश्व रूप अकार तैजस रूप उकार से भिन्न नहीं, अपितु उकार का स्वरूप ही है,—ऐसा चिन्तन ही यहां लयचिन्तन कहा जाता है। मात्रा के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस उकार में अकार का लय किया गया है, उस तैजस रूप उकार को प्राज्ञ रूप मकार में लय करना और प्राज्ञरूप मकार को तुरीय रूप ओङ्कार के परमार्थ रूप अमात्र में लय करना चाहिए, क्योंकि स्थूल की उत्पत्ति तथा लय सूक्ष्म में ही होते हैं, अतः विश्वरूप अकार का तैजस रूप उकार में लय हो सकता है। सूक्ष्म की उत्पत्ति और लय उसके कारण में होते हैं। सुतरां तैजस रूप उकार के कारण प्राज्ञ रूप मकार में तैजस रूप उकार का लय हो सकता है। जिस प्राज्ञरूप मकार में उकार का लय किया गया है, उसको तुरीय रूप ओङ्कार के परमार्थ रूप अमात्र में लय करना चाहिये, क्योंकि तुरीय और ओङ्कार का परमार्थ रूप अभिन्न है। वह तुरीय शुद्ध ब्रह्म स्वरूप है और शुद्ध में ईश्वर और प्राज्ञ दोनों ही कल्पित हैं। जो जिसमें कल्पित होता है, वह तत्स्वरूप ही है, सुतरां ईश्वर सह प्राज्ञ रूप मकार के तुरीय में लय हो सकता है।

इस प्रकार ओङ्कार के परमार्थ स्वरूप अमात्र में सब का लय करके 'मैं ही वह हूं' ऐसा एकाग्र चित्त से चिन्तन करना चाहिये। स्थावर-जङ्गम रूप, असङ्ग, अद्वय, असंसारी, नित्यमुक्त, निर्भय और ब्रह्म स्वरूप ओङ्कार का परमार्थ स्वरूप 'मैं ही वह हूं' इस प्रकार चिन्तन व्याध्यान करने से ज्ञानोदय होता है। सुतरां ज्ञान द्वारा मुक्तिरूप फलदाता उस ओङ्कार की निर्गुणोपासना ही सर्वोत्तम है।

ओङ्कार तथा महावाक्य का अर्थ अभिन्न है। स्थूल उपाधिसह-चैतन्य अकार का वाच्य और स्थूल उपाधि रहित चैतन्यमात्र अकार का लक्ष्य है। सूक्ष्म उपाधि सह चैतन्य उकार का वाच्य और सूक्ष्म उपाधि रहित चैतन्य उकार का लक्ष्य है। कारण उपाधि सह चैतन्य मकार का वाच्य और कारण-उपाधि रहित चैतन्य मात्र मकार का लक्ष्य है। इस प्रकार उपाधिसह विश्वादि अकारादि मात्राओं के वाच्य

हैं और उपाधि रहित केवल चैतन्य अकारादि मात्राओं का लक्ष्य है। इसी प्रकार नाम-रूप उपाधि सहित चैतन्य ओङ्कार का वाच्य एवं नाम-रूप उपाधि रहित चैतन्य ओङ्कार का लक्ष्य है। इस तरह ओङ्कार और महावाक्यों का अर्थ भी अभिन्न है। सुतरां ओङ्कार के विवेक-विचार द्वारा अपरोक्ष अद्वैत ज्ञान का उदय हो सकता है।

—

ब्रह्म--कथा

(१)

ब्रह्म प्रत्यक्ष प्रमाण का अविषय है, क्योंकि वह निराकार रूप ही है। वह प्रत्यक्षाधीन अनुमान का भी विषय नहीं है। पुरुषमति सम्भूत अनुमान ब्रह्म में अप्रतिष्ठित होता है। अतीन्द्रिय पदार्थ प्रत्यक्ष तथा अनुमान का विषय भी नहीं होता, अपौरुषेय श्रुति ही उस में प्रमाण होती है। उसी श्रुति द्वारा ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण प्रतिपादित हुआ है--"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्तितद्धि जिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" (तैत्ति० ३।१।१),"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति ० २।१।१)। लक्षण दो प्रकार के होते हैं—तटस्थलक्षण और स्वरूपलक्षण। जन्मादि ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है और सत्य-ज्ञानादि स्वरूपलक्षण। जो लक्षण स्वरूपान्तर्गत रहकर पदार्थान्तर का व्यवस्थापक होता है, उसका नाम तटस्थ लक्षण है और जो लक्षण वस्तु का प्रकृतस्वरूप है, वह स्वरूप लक्षण कहा जाता है। यद्यपि जन्मादि जगत् का धर्म है, तथापि कल्पनाप्रयुक्त ब्रह्म-सम्बद्ध होकर वह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण होता है। जैसे– रज्जु में सर्पभ्रान्ति होने पर अधिष्ठान ज्ञान द्वारा सर्पभ्रम दूर हो जाय, तो 'जो सर्प है वही रज्जु है' अर्थात् सिवा रज्जु के सर्प की पृथक् सत्ता नहीं है-- इस प्रकार जैसे कल्पित सर्प द्वारा रज्जु का लक्षण घट सकता है, वैसे ही जो जगत्कारण है, वही ब्रह्म है--इस तरह कल्पित वस्तु द्वारा ब्रह्म उपलक्षित होता है। कहा जा सकता है कि सत्य, ज्ञान प्रभृति पद संसार में भिन्न अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं, उन से अखंड ब्रह्म लक्षित नहीं हो सकता, किन्तु ऐसी आपत्ति ठीक नहीं है। एक ही देवदत्त नामक व्यक्ति माता प्रभृति की अपेक्षा पुत्र आदि भिन्नार्थ में प्रतीत होने पर जैसे कुछ भी विरोध नहीं होता, वैसे ही लोकसिद्ध

भिन्नार्थवाची सत्य, ज्ञान प्रभृति पदों के अखण्ड ब्रह्म-पर्यवसायी होकर स्वरूप लक्षण होने में कुछ भी दोष नहीं हो सकता। अपौरुषेय श्रुति ने जब ब्रह्म को जगत् का उपादान और निमित्त कारण कहा है, तब लौकिक सुखादि दृष्टान्त के द्वारा भी ब्रह्म का उभयकारणत्व सम्भावित हो सकता है।

'जगज्जन्मादि कारणत्व' ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है और 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं' इत्यादि स्वरूप लक्षण है। यहाँ शाखाचन्द्र न्याय से निर्गुण ब्रह्म का लक्षण किया गया है। द्वितीया का चन्द्र अति सूक्ष्म होने के कारण सब कोई उसे नहीं देख सकते। किन्तु 'वृक्ष शाखाग्र में चन्द्र है' ऐसा उपदेश मिलने पर तत्क्षण चन्द्र दिखलाई पड़ता है। यह चन्द्र का तटस्थ लक्षण है। शाखा द्वारा उपलक्षित चन्द्र को जान लेने पर दूर के नक्षत्रों से उसका भेद किया जा सकता है। निकट के नक्षत्रों से भेद करने के लिये स्वरूप लक्षण आवश्यक होता है। 'प्रकृष्ट प्रकाशः चन्द्र'—प्रकृष्ट प्रकाशशील पदार्थ ही चन्द्र है—यह जैसे चन्द्र का स्वरूप लक्षण है, वैसे ही ब्रह्म के तटस्थ लक्षण द्वारा बाह्य कारणों से उसका पार्थक्य किया जा सकता है और स्वरूप लक्षण के द्वारा सांख्यादि मतों से वह पृथग् रूप से जाना जाता है। सुतरां यह निर्गुण ब्रह्म का ही लक्षण है, और वही ज्ञेय है। कल्पित जगत्कारणत्वादि द्वारा निर्गुण ब्रह्म के लक्षण में किसी प्रकार का दोष नहीं आता। "यतो या इमानि भूतानि जायन्ते" इस वाक्य में जो 'यतः' पद है, वह यत् शब्द के आगे पञ्चमी विभक्ति में तसिल् (तस्) प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है। पञ्चमी विभक्ति कारणत्व प्रकट कर रही है। वह जन्मादि—कारणत्व ही ब्रह्म लक्षण है। 'यतः' इस पद के प्रकृतिभूत यत् शब्द के द्वारा 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति प्रतिपाद्य आनन्द रूप वस्तु कही गई है। ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है यह सिद्धान्त "आनन्द-ध्येव खल्वमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुति द्वारा निर्णत हुआ है। 'जन्मादि' पद के द्वारा तटस्थलक्षण और 'यत्' शब्द से स्वरूपलक्षण कहा गया है। हिरण्यगर्भ

प्रभृति जीव इस विचित्र जगत् के सृष्टा नहीं हो सकते, क्योंकि उनकी भी किसी ने सृष्टि की है। श्रुति–स्मृति प्रभृति में हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति की कथा पाई जाती है। महाभूत सृष्टि के उपरांत जिस हिरण्य-गर्भ की सृष्टि होती है, वह इस महाभूतादि जगत् का स्रष्टा कैसे होगा ? चेतन जीव ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण नित्य है, तथापि उसकी उपाधि के अनित्यत्व के कारण उसे भी कार्य कहा जाता है। वह जगत् के अन्तर्गत होने से जगत का स्रष्टा कैसे होगा ?

जो लोग स्वभाव को जगत् का कारण बतलाते हैं उनसे पूछना चाहिए कि स्वभाव का स्वरूप क्या है ? क्या आप ही अपने हेतु का नाम स्वभाव है अथवा कारणान्तर की अपेक्षा न रखना ही स्वभाव है ? पह-ला पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि आप ही अपना कारण होने पर आत्माश्रय दोष होता है। द्वितीय कल्प भी नहीं बनता, क्योंकि किसी कार्य के होने के लिये विशिष्ट देश, काल तथा निमित्त स्वीकृत होते हैं। जो लोग कुछ कार्य करना चाहते हैं, वे विशिष्ट-असाधारण–देश, काल और निमित्त ग्रहण करते हैं, अतः कारण की अपेक्षा अस्वीकार कैसे की जाय ? यदि किसी कारण की अपेक्षा न रखना स्वभाव है, तो धान्य रूप कार्य या फल लाभ में प्रवृत्त मनुष्य पार्वत्य प्रदेश तथा ऊसर भूमि छोड़ कर कोमल भूप्रदेश ग्रहण क्यों करे ? और जब विशिष्ट या असाधारण भूप्रदेश धान्य के लिये ग्रहण किया जाता है, तब कारण-निरपेक्ष स्वभाव की कारणता स्वीकार नहीं की जा सकती। वर्षा के समय धान्य उत्पन्न होता है अथवा जिस धान्य का जो समय है, उस समय वह उपजता है। यदि केवल स्वभाव ही कारण होता, तो सर्वदा धान्य उत्पन्न होता, वर्षादि काल की अपेक्षा न रहती। जब विशिष्ट काल की अपेक्षा रहती है, तब स्वभाव-वाद खण्डित हो गया। धान्य का बीज धान्य के विशिष्ट निमित्त-स्वभाव से उत्पन्न होता, तो बीज की भी आव-श्यकता न रह जाती।

“तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि” (मैं उपनिषत् प्रतिपाद्य पुरुष के

विषय में जिज्ञासा करता हूँ) इस श्रुति के द्वारा उपनिषत् वा वेदान्त प्रतिपाद्य आत्मा ही जिज्ञास्य हो रहा है और वही विचार्य भी है। अनुमान विचार्थ नहीं है, यह भी पूर्णतया जाना जा रहा है। तत्त्वमस्यादि वाक्य और उसकी प्रतिपाद्य वस्तु के विचार से जो अध्यवसान-तात्पर्य निश्चय अर्थात् प्रमेय सम्बन्धी वाध के अभाव का निश्चय होता है, उससे जो ब्रह्म साक्षात्कार उत्पन्न होता है, वहीं मुक्ति फल का निमित्त होता है, अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा नहीं होता। इस पर फिर प्रश्न होता है कि तो क्या अनुमानादि प्रमाणों की कोई अपेक्षा नहीं रहती ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि बिल्कुल अपेक्षा नहीं रहती यह बात नहीं है। वेदान्त वाक्य के तात्पर्य निर्णय रूप विचार द्वारा जगत्- कारण एक, अद्वितीय, सर्वज्ञ निर्णीत होने पर उसके अविरोधी अनुमान के द्वारा प्रमेय संशय, भ्रमज्ञान प्रभृति दूर हो सकते हैं- श्रुत्यर्थ निरूपण के सहायरूप से अनुमान का प्रयोजन है, स्वतन्त्र नहीं, यही प्रकृत रहस्य है। उस अनुमान का आकार ऐसा है—जगत् का निमित्त तथा उपादान-कारण एक है, क्योंकि यह जगत कार्यरूप है, जैसे सुख। अथवा जगत् चेतन कारण जन्य है क्योंकि यह कार्य (जन्य) है जैसे सुख। तार्किक मत में कार्यमात्र के प्रति अदृष्ट युक्त आत्मा निमित्त कारण होता है और उसी आत्मा का समवायिकारणत्व रूप उपादानत्व भी रहता है। जब सुख कार्य है, तब उसका निमित्त तथा उपादान कारण आत्मा है। इस प्रकार ब्रह्म भी जगत् का निमित्त-कारण और उपादान कारण होगा। इस प्रकार का अनुमान श्रुत्यर्थ को दृढ़ता के लिए आदरणीय होता है। 'श्रोतव्य' : इस श्रुति के अनन्तर 'मन्तव्यः' भी कहा गया है, अतः श्रुति के अर्थ-निरूपण म अनुमान की सहायता की आवश्यकता ज्ञात हो रही है। तर्क के द्वारा श्रुति प्रतिपाद्य वस्तु को सम्भावना होती है। शास्त्रों में कहीं कहीं तर्क और अनुमान पर्याय रूप से व्यवहृत हुये, हैं कहीं कहीं भिन्नार्थ भी किये गय हैं।

तर्क की सहायता आवश्यक है यह बात 'छान्दोग्योपनिषद' में आख्या-

यिकारूप से बतलायी गई है, जैसे-किसी चोर को, जिस की आँखें बांध दी गयी हों, गान्धार देश से लाकर किसी अत्यन्त जन शून्य वन में हाथ बँधे हुये ही छोड़ दिया जाय और बाद में कोई साधु पुरुष उसकी आँख और हाथ खोल कर कहे कि 'गान्धार देश इस दिशा में है, अतः उधर जाओ।' यदि वह पुरुष तर्क कुशल बुद्धिमान है, तो साधु के उपदेशक्रम से एक गाँव से दूसरा गाँव पूछता हुआ, शनैः शनैः वन, पर्वतादि का अतिक्रमण करके अभिलषित गान्धार देश में पहुंच जाता है। इसी प्रकार संसारी मानव अविद्या, काम कर्म प्रभृति चोरों द्वारा स्वरूपानन्दरूप अपने देश से भीषण संसारारण्य में ले जाया जाकर स्वरूपज्ञान खोकर जन्म-जन्मान्तर से भटक रहा है, किसी भी तरह अपने स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर पाता अनेकों अनर्थ जालों से युक्त होकर रोता हुआ वह जब कभी पुण्य की अधिकता का उदय होने से किसी परमकृपालु, सद्ब्रह्मात्मज्ञ बन्धन मुक्त ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष को प्राप्त होता हैं और उस ब्रह्मवेत्ता द्वारा दया वश सांसारिक विषयों के दोष दर्शन का मार्ग दिखाये जाने पर सांसारिक विषयों से विरक्त हो जाता हैं तथा 'तू संसारी नहीं है और न इसके पुत्रत्वादि धर्मवाला ही है जो सत्तत्व है वही तू है, तू ब्रह्मस्वरूप है' इस प्रकार के उपदेश से वह तर्क कुशल बुद्धिमान् व्यक्ति गुरूपदिष्ट तत्त्व को विचार द्वारा समझ लेता है तब गाधार देशीय पुरुष के समान अपने सदात्मस्वरूप को प्राप्त होकर सुखी और शान्त हो जाता है।

उक्त श्रुति बतला रही है कि उसके अर्थज्ञान में पुरुष बुद्धिप्रसूत तर्क की भी अपेक्षा रहती है। छाँदोग्योपनिषद के उक्त वचन से ज्ञात होता है कि गान्धार देश अति प्राचीन है। आधुनिक समय में इसे कन्दहार वा क़ाबुल कहते हैं। उस समय वह स्थान यवनों से अधिकृत नहीं हुआ था। अति पवित्र देश होने के कारण श्रुति ने उसका उल्लेख किया है। जो लोग कहा करते हैं कि भारतवर्ष आर्यों की पितृभूमि नहीं है, आर्यों ने इस देश के आदिमनिवासी असभ्यों को पराजित करके भारतभूमि पर

अधिकार किया—हैं उक्तश्रुत वाक्यसे उनकी आखें खुल जानी चाहिये। श्रुति जैसे अनादि है, वैसे ही वे सब देश भी अनादि ही हैं और अनादि काल से आर्य लोग इस देश में (भारत में) वास कर रहे हैं। गान्धार देश से चोर मनुष्यों को चुरा लेते हैं—श्रुति ने ऐसा कहा हैं। वर्तमानमें भी गान्धार देश के निकट वर्ती सीमान्त प्रदेश मैं मनुष्य-चोरी होती है। पर यह विशेषता हैं कि उस समय के चोर मनुष्य की आख बांधकर उसे वन में छोड़ देते थे, जब कि इस समय के चोर मनुष्य को भीषण यन्त्रणा देते हैं। और जब तक पर्याप्त धन नहीं मिल जाता, तब तक उसे नहीं छोड़ते, मार भी डालते हैं। उस देश की मनुष्य चोरी का पता देकर श्रुति जननी ने अपनी सन्तान भारतवासियों को सावधान कर दिया है। इस से भी अनुमित होता है कि शास्त्र कैसे सत्य और भविष्य दर्शी है। यदि कहा जाय कि इस आख्यायिका का तात्पर्य श्रुति की तर्क-सहायता में है, आख्यायिका में नहीं, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि महा-तात्पर्य उस में होने पर भी अवान्तर तात्पर्य आख्यायिका में है ही।

"यतो वा इमानि भूतानि" इस श्रुति में 'यतः' इस एकवचन तथा कारणत्ववाची पञ्चमी विभक्ति है, किन्तु वह किसे लक्ष्य कर रहे हैं? 'सन्दिग्धन्तु वाक्य शेषात्' अर्थात् संदिग्ध विषय वाक्य शेष द्वारा निर्णीत होता है ऐसा सिद्धान्त है। श्रुति में 'यतः' इस शब्द द्वारा अनिर्दिष्ट एक कारण मिलता है, किन्तु उसी वाक्य के अन्त में जो स्वरूपलक्षणबोधक वाक्य है, उस से सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म मिल रहा है। केवल यह वाक्य ही ब्रह्मस्वरूप का बोधक नहीं है, 'यः सर्वज्ञ सर्ववित्' 'तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि अन्यान्य शाखा के श्रुति वाक्यों को भी इस सूत्र के विषय-वाक्यरूप से ग्रहण करना होगा। समस्त वेद शाखाओं में तटस्थ तथा स्वरूपलक्षण-प्रतिपादक वाक्य ब्रह्म में समन्वित हैं, उनके विचार द्वारा मुक्ति अवश्यम्भाविनी है।

संसार में देखा जाता है कि चेतन पदार्थ जिस किसी वस्तु की, सृष्टि करता है जान बूझ कर ही करता है। कुम्भकार पहले मन से घट, शराव प्रभृति विषय की आलोचना करके बुद्धिपूर्वक उन्हें बनाता है। इससे यही स्थिर हुआ कि जो जिस विषय का सृष्टा होता है, उस विषय का ज्ञान उसे रहता है। ब्रह्म निखिल जगत् का सृष्टा है अतः ब्रह्म सर्व विषयक ज्ञानशाली है। उस ब्रह्म की आर्थिक सर्वज्ञता प्रधानादि में सम्भावित हो सकती है, इसलिए "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः" (बृहदा० २।४।१०) इत्यादि श्रुतियाँ वेद कर्त्तृत्व द्वारा ब्रह्म का सर्वज्ञत्व दृढ़ भाव से प्रतिपादन करतीहैं। यद्यपि सर्वज्ञान शक्तिमत्व प्रधानादि में सम्भावित हो सकता है, तथापि सर्वज्ञकल्प ऋग्वेदादि शास्त्रों का कर्त्तृत्व अचेतन प्रधानादि में नहीं बन सकता। जैसे वैदिक लोग वेदों के पूर्वक्रम से अवगत होकर वेद का उच्चारण करते हैं, वैसे ही प्रकाश-चैतन्य स्वरूप परमेश्वर त्रिगुणा माया की सहायता से स्वरचित पूर्वकल्पस्थ-क्रम तुल्य क्रमविशिष्ट वेद राशि तथा उसके अर्थ को युगपत जानकर वेद की रचना करता है, इसलिये वेद की पौरुषेयता न हुई। जहां वाक्य-रचना में अर्थज्ञान वाक्य ज्ञान का कारण होता है, वहां पौरुषेयत्व होता है। वेद के विषय में परमेश्वर का अर्थज्ञान तथा वाक्य ज्ञान युगपत् होने से वेद पौरुषेय न हुआ। वेदकर्ता जैसे वेद को जानता है, इसी प्रकार वेद सम्बद्ध अर्थ को भी जानता है, अत वह सर्वज्ञ है। प्राकृत मनुष्य जिस वाक्य वा जिन वाक्य समूहों द्वारा ग्रन्थ लिखते हैं, उसमें प्रयुक्त पदसमूह का अर्थ पहले कोषादि द्वारा जान कर तब उनका प्रयोग करते हैं अतएव उनकी वाक्य रचना प्रमाणान्तर द्वारा अर्थज्ञान पूर्वक होती है, अतः उनके रचित वाक्य, पौरुषेय हैं। ईश्वर जिस वेद की रचना करता हैं, उसमें उसका अर्थज्ञान तथा वाक्यज्ञान एक साथ प्रकाश पाता है। यद्यपि ईश्वर वेद कर्त्ता है, तथापि उसमें उसकी स्वतन्त्रता नहीं है, वह गतकल्पीय पूर्व क्रमयुक्त वेद के सजातीय क्रमविशिष्ट वेदराशि

की रचना करताहै। जिसमें पुरुष की स्वतन्त्रता रहती है, वह पौरुषेय कहा जाता है, तद्भिन्न अपौरुषेय हैं। जिस आप्त पुरुष से जो शास्त्र आविर्भूत होता है, उस आप्त पुरुष को उस शास्त्र की अपेक्षा अधिक विषयों का ज्ञान रहता है। यह सर्वजन प्रसिद्ध है। जैसे पाणिनि जितने विषय जानते हैं, उन ज्ञेय विषयों का एकदेश (अंशविशेष) व्याकरण है, पाणिनि व्याकरणातिरिक्त और भी अनेक विषय जानते थे, अतः व्याकरण से अधिक बिषयक पाणिनि से व्याकरण उत्पन्न हुआ। इस से ऐसा नियम है कि अल्पार्थयुक्त शास्त्र अधिक अर्थ जाननेवाले से उत्पन्न होता है। अतएव "अस्त्र महतः" इस श्रुतिवश जिस अपरिच्छिन्न, सत्य कारण से विविध शाखा समन्वित पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द एवं ज्योतिष-रूप दश विद्यास्थानों से उपकृत, प्रदीपवत् सकलपदार्थों के प्रकाशक सर्वज्ञकल्प वेद की पुरुष—निःश्वास के समान अप्रयत्न से अल्प प्रयत्न से उत्पत्ति हुई है, उस वेद कर्त्ता की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता के विषय में कहना क्या है? वैदिक दूसरों के रचित वेद का पाठ करते हैं, ईश्वर स्वरचित आनपूर्वीक वेद का स्वयं स्मरण करके कल्पारम्भ में ब्रह्मा आदि को वेद ज्ञान प्रदानकर स्वयम्प्रकाश होने के कारण स्वयं भी उसे जानता है, इसलिये वह सर्वज्ञ है।

(३)

निखिल वेदान्त का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में है, वह वेदान्तशास्त्र प्रतिपाद्य है। समस्त वेदान्त का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य होने से वेदान्त अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। जो वस्तु जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होती है, वह उस वाक्य का प्रमेय कही जाती है जैसे वेदोक्त कर्मकाण्ड का तात्पर्य विषय धर्म है, वह धर्म-कर्म प्रतिपादक वाक्यों का प्रमेय है। तत्त्वमस्यादि वेदान्तवाक्य अखण्डार्थं ब्रह्म का प्रति-पादन करते हैं अतः अखण्डार्थ ही वेदान्त का प्रमेय हैं। असंसर्ग का नाम अखण्डार्थ है। एक वाक्यस्थ पद समूह परस्पर विशेष्य विशेषण भाव

और क्रियाकारक रूप से संसृष्ट देखे जाते हैं. इसी लिये पण्डितों ने आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसक्तिपदसमूह को वाक्य युक्तकहा है। यदि कहा जाय कि वाक्य संसर्गशून्य कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि यह असंसृष्टत्व पारिभाषिक है। वाक्यान्तर्गत पदों से जो पदार्थ ज्ञात होते हैं, उनके सम्बन्ध के विषय में यथार्थज्ञानजनकता ही वाक्य की अखण्डार्थता है जो अप्रसिद्ध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चन्द्र का लक्षण पूछने पर उत्तरदाता कहता है–'प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः' अर्थात् रात्रि के समय आकाश में दृष्ट उज्ज्वल पदार्थों में से जिसका प्रकाश सर्वापेक्षया अधिक है, वह चन्द्र है। लोक में यह वाक्य लक्षणा द्वारा चन्द्र विषयक यथार्थ ज्ञान का हेतु होता है। यदि कहा जाय कि वाक्यस्थ समस्त पदों की लक्षणा देखने में नहीं आती। 'गङ्गायाँ घोषः प्रतिवसति' गङ्गा में आभीर ग्राम है इस वाक्य में एक मात्र गङ्गापद की गङ्गातीर में लक्षणा की गई है। इसका उत्तर यह है कि वैसे स्थल में एक ही पद में लक्षणा होने पर भी अन्यत्र समस्त पदों में भी लक्षणा देखी जाती है। जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद–स्थल में सभी पद लक्षणा के द्वारा 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस विधि के स्तावक होते हैं। ऐसे अर्थ–वाद स्थल में किस पद की लक्षणा कही जायगी विनिगमना के अभाव में समस्त पदों की लक्षणा अवश्य अङ्गीकार्य होती है। विवाद के विषयी भूत दो वस्तु या वस्तुओं को एकतर पक्षपातिनी युक्ति 'विनिगमना' कही जाती है।'अतः 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म', इत्यादि स्थल में सत्य प्रभृति पदों के द्वारा अखण्ड ब्रह्म ही प्रकाशित होता है अतः पक्षासिद्धि दोष नहीं होता। जिसमें किसी वस्तु का अनुमान किया जाता है, वह 'पक्ष, है, अनुमेय वस्तु 'साध्य' है और जिससे अनुमान किया जाता है, वह 'साधन' हेतु वा 'लिङ्ग' कहा जाता है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहां पर्वतस्थ धूम से अग्नि का अनुमान किया जाता है। अतः पर्वत पक्ष है, वह्नि साध्य है और धूम हेतु है। उपक्रम, उपसंहारादि षड्विध लिङ्ग द्वारा समस्त वेदान्त का अद्वितीय

अखण्ड ब्रह्म में तात्पर्य निर्णीत होने के कारण हेत्वसिद्धि भी नहीं होती।

उप क्रमादि निम्नलिखित हैं–'उप क्रमोपसंहारा वभ्यासो पूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्तीच लिङ्ग तात्पर्य निर्णये ॥" (१) उप–क्रम और उपसंहार का ऐक्य, (२) अभ्यास–पौनः पन्य, (३) अपूर्वता प्रमाणान्तर के अविषयी भूत वस्तु का कथन, (४) फल, (५) अर्थ–वाद और (६) उपपत्ति-युक्ति इन छः लिङ्गों से तात्पर्य-निर्णय होता है। उनमें प्रथम उपक्रम दिखलाया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्'। अरुण के पुत्र उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—हे प्रिय दर्शन! नामरूप से अभिव्यक्त-यह समस्त जगत् उत्पत्ति पूर्व बाध-रहित अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप ही था। ब्रह्म स्वगत-सजातीय-विजातीय-भेद शून्य है। 'सदेव' इस श्रुति में 'एव' शब्द से ब्रह्म-व्यतिरिक्त जगत् की पृथक सत्ता का निषेध किया गया है, क्योंकि सत् कार्य वाद में कारण से भिन्न कार्य की पृथक सत्ता स्वीकृत नहीं हुई है। जब ब्रह्म सब का कारण है, तब ब्रह्म की सत्ता ही सबकी सत्ता है। निखिल पदार्थों में अनुगत एक ही सत्ता स्वीकार करने से लाघव होता है। प्रति वस्तु में पृथक सत्ता मानने से अनन्त सत्ता मानने के कारण गौरव होता है। अतएव नैयायिक सम्मत सत्ताजाति अथवा बौद्ध सम्मत अर्थ क्रिया कारित्व रूप सत्ता अनुगत बुद्धि की नियामक नहीं है, सुतरां वह हेय है। 'एक मेवाद्वितीयम्' इस श्रुति-वाक्य में एकम्, एव, अद्वितीयम्-इन तीन पदों से स्वगत, सजातीय तथा विजातीय द्वैत का निरास किया गया है। वृक्ष कहने पर शाखा, पल्लव, पत्रादि विशिष्ट एक वस्तु का ज्ञान होता है, किन्तु शाखा, पल्लवादि वृक्ष का स्वगत भेद है। ऐसा भेद ब्रह्म में नहीं है, वह तो सैन्धवघनवत् एक रस है। जैसे पशुत्व से गौ और महिष का भेद सजातीय है, वैसा भेद भी ब्रह्म में नहीं है, क्योंकि ब्रह्म की समानजातीय पृथक कोई वस्तु नहीं है। गौ के साथ मनुष्य

का भेद विजातीय है, ऐसा भेद भी ब्रह्म में नहीं है। जो लोग कहते हैं कि वेदान्त-तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म में नहीं हैं, क्योंकि एक शब्द का अर्थ एक जातीय है, अर्थात् सब आत्मा परस्पर भिन्न हैं, किन्तु एक-जातीय हैं और सब आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप भी हैं। उनके मतानुसार उपक्रमादि षड्विध लिङ्ग सङ्गत नहीं होते। 'एकम्, एव, अद्वितीयम्' इन तीन पदों का प्रयोग फिर व्यर्थ हो जाता है। अद्वितीय ब्रह्म का उपक्रम में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि वाक्य द्वारा उपसंहार किया गया है। उपक्रम और उपसंहार का ऐक्य होने से अद्वितीयब्रह्म में वेदान्त का तात्पर्य है।

उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से नौ बार 'तत्त्वमसि' उपदेश किया था। नौ बार कहने से अद्वितीय ब्रह्म में वेदान्त-तात्पर्य होना निःसंशय है। शास्त्र अपूर्व विषय का ही प्रतिपादन करता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा निरूपित विषय को ही प्रमाणित करके शास्त्र अपूर्व विषय का प्रतिपादक नहीं हो सकता। जीव और ब्रह्म का ऐक्य रूप विषय किसी प्रमाग द्वारा निर्णीत नहीं हुआ है।' उसी ऐक्य को प्रतिपादन करके शास्त्र प्रमाण होता है। रूपादिहीन अद्वितीय ब्रह्मकी प्रमाणान्तरकी अयोग्यता ही अपूर्वत्व। 'अत्र वा व किल सत् सौम्य न निभालयसे'—(देहादि-सङ्घात में स्थित प्रत्यग्ब्रह्म को तुम नहीं जान रहे हो) इत्यादि वाक्य अपूर्वत्व विषय में प्रमाण हैं। 'तस्य तावदेव चिरंयावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये–' (विद्वान् का, जब तक देहपात नहीं होता, तब तक ही उसकी मुक्ति में विलम्ब रहता है, देहपात के अनन्तर वह ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है) इस श्रुति द्वारा ब्रह्म ज्ञान का फल मुक्ति प्रदर्शित हुआ है। जीवन्मुक्ति के अनन्तर विदेह-कैवल्यावस्था ही मुक्ति है, वही फल है। 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य'—(इस जीवात्मारूप से प्रवेशपूर्वक नाम और रूप का प्रकाश करूंगा)—इत्यादि वाक्य अद्वितीय ब्रह्म ज्ञान का निमित्त होने से अर्थवाद हैं। मृत्तिकादि दृष्टान्त दिखलाकर कारण से भिन्न कार्य का अभाव होता है—ऐसी युक्ति दिखलाई गई

है। इसी रीति से प्रत्येक वेदान्त में उक्त छः प्रकार के तात्पर्य-लिंग व्यष्टि वा समष्टिरूप से होते हैं। ऐतरेय श्रुति में कहा गया है—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"—सृष्टि के पूर्व एक मात्र आत्मा ही था। छान्दोग्यवाक्य में सत्-स्वरूप ब्रह्म की सत्ता के विषय में कहा गया है और इस ऐतरेय-श्रुति में सत्-स्वरूप आत्मा के विषय में कहा गया है। दोनों श्रुतियों का ऐक्य करके आत्मा और ब्रह्म को अभिन्न माना जाता है। बृहदारण्यक में मधुकाण्ड के उपसंहार में कहा गया है—"तदेतद् ब्रह्म-पूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" अर्थात् मायायोग से बहुरूप धारा ब्रह्म प्रत्यक्ष, कारणशून्य, कार्यशून्य, जात्यादि रहित, एकरूप अद्वितीय, निखिल वस्तुओं के अनुभव करने में समर्थ अर्थात् चैतन्य स्वरूप, ज्ञानमात्र है। 'अयमात्मा सर्वानुभूः'—यह श्रुति ब्रह्म का प्रत्यक्षत्व उपपादन कर रही हैं। अथर्ववेदीय मुण्डक श्रुति में कहा गया है—'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' अर्थात् पूर्व दिग्वर्ती जो वस्तुयें ब्रह्म-भिन्न रूप से अविद्वान् के लिये प्रतिभात होता हैं, वही सब वस्तुयें विद्वान् के लिए प्रकृत अमृत ब्रह्म-स्वरूप हैं। ये सब वाक्य सत् स्वरूप आत्मा (ब्रह्म) की निर्विशेषार्थता के प्रतिपादक हैं।

'यह सर्प नहीं है' यह वाक्य अपने अर्थ में सफल है। इस वाक्य द्वारा यथाश्रुत जो अर्थ प्रतीत रहा है, वह सफल है। जो व्यक्ति रज्जु को सर्प जानता है, उस में भय, कम्प, प्रभृति उत्पन्न होते हैं। यदि कोई आप्त पुरुष उस से कहे कि 'नायंसर्पः (यह सांप नहीं है) तो उसके भय-कम्पादि की निवृत्ति होती है। यह भय, कम्पादि की निवृत्ति ही फल है। जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में स्वर्ग-काम मनुष्य नियोज्य होता है, वैसे 'नायं सर्पः' इस वाक्य में कोई नियोज्य नहीं है। वेदान्तवाक्यसमूह भी अपने अर्थ में सफल होकर नियोज्यवि-हीन होने से विधिपरक नहीं है। मोक्षविधिजन्य नहीं है, क्योंकि वह कर्म फल स्वर्गादि से विलक्षण (पृथक) है। आत्मा नित्यसिद्ध वस्तु होने के कारण जैसे उसमें किसी विधि का सम्बन्ध नहीं हो सकता,

वैसे ही मोक्ष भी आत्मस्वरूप होने से नित्य है, उसमें कोई विधि नहीं है। 'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छान्दो० ८।१२।१) इत्यादि श्रुति में 'वाव' अवधारणार्थक अव्यय है। वास्तविक पक्ष में आत्मा देह रहित है, वैषयिक सुख और दुःख आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकते। यदि मोक्ष उपसनारूप कर्म का फल होता, तो, श्रुति में प्रिय और अप्रिय का निषेध असङ्गत होता। यदि कहाजाय कि श्रुति में जो 'प्रिय' शब्द है उसका अर्थ विषय सेवाजन्य दुःख है, उस का ही निषेध श्रुति में बतलाया गया है, धर्म-फल जो प्रिय अर्थात सुख है उसका निषेध नहीं किया गया। धर्म का फल मोक्ष है क्योंकि धर्म का फल विचित्र है; तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति में अशरीरत्वरूप मोक्ष को स्वाभाविक कहा गया है। स्वाभाविक वस्तु कर्मजन्य नहीं हो सकती, "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरोन शोचति" (कठ० २।२२)। अर्थात स्थूल देह शून्य, अनेक अनित्य देहों में एक नित्यरूप से विराजित, व्यापक आत्मा को जान कर धीर प्राणी शोक शब्द द्वारा उपलक्षित संसार को पुनः प्राप्त नहीं होता। "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" (मुण्डक० २।१।२) यहां 'अप्राण' शब्द से सूक्ष्म देह का अभाव कहा गया है। प्राण और मनका निषेध करने से क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का निषेध किया गया है अतएव क्रियाशक्ति के आश्रय प्राण का और ज्ञानशक्ति के आश्रय मनका निषेध होने पर दोनों के अधीन कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय का भी निषेध हो गया। सुतरां आत्मा शुद्ध और सर्व सङ्गवर्जित है—"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (वृह० ४।३।१५), मोक्ष भी वैसे ही देहेन्द्रिय सम्बन्ध रहित अनादिसिद्ध भाव वस्तु है। वह मोक्ष आत्मा का स्वरूप ही है। तत्त्वज्ञान के समुदित होने पर अविद्यारूप आवरण का अपनयन कर स्वस्वरूप अभिव्यक्त कर देता है। मोक्ष जन्य नहीं, नित्य है। मोक्ष अभावरूप नहीं, भावरूप है। अतएव कर्म-फल से मोक्ष एक दम विलक्षण है।

मोक्ष विधि का फल होता, तो स्वर्गादि की तरह भिन्न काल में

उत्पन्न होता। तब तो श्रुति का बाध होता है। ब्रह्म साक्षात्कार-मुहूर्त्त में ही मोक्ष होता है, किन्तु धर्म के अनुभव-समय में स्वर्गादि लाभ नहीं होता, कालान्तर में धर्म फल स्वर्गादि का लाभ होता है। मुनिश्रेष्ठ वामदेव 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूं' इस प्रकार के ज्ञान द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार करके ब्रह्म स्वरूप हुये थे एवं मैं मनु, इन्द्र प्रभृति हुआ था इस रीति से सर्व भूतों में उन्होंने आत्मा को देखा था। इस कारण भी मुक्ति को विधि का फल नहीं कहा जा सकता। ज्ञान का फल अज्ञान-निवृत्ति है, यदि वह ज्ञान विधेय हुआ, तो कर्म हुआ और कर्म होने पर अज्ञान निवृत्ति नहीं कर सकता। अतएव वेदान्त वाक्य वस्तु स्वरूप के बोधक हैं, विधायक नहीं। उपक्रम तथा उपसंहार की एकवाक्यता से यही ज्ञात होता है कि मोक्ष क्रिया साध्य नहीं, केवल ज्ञान द्वारा प्रकाश्य है। प्रश्नोपनिषद् में देखा जाता है कि भरद्वाज प्रभृति छः ऋषियों ने गुरु पिप्पलाद से कहा था--"त्वं हि नः पिता योऽस्माकम् विद्यायाः पारं तारयसि" (६।८) अर्थात् आप हमारे पिता हैं, जो आपने हमें विद्या-रूप नौका द्वारा अविद्या के पार पुनरावृत्ति रहित ब्रह्मको प्राप्त कराया है अर्थात् हमारा अज्ञान नष्ट किया है। छान्दोग्योपनिषद् में भी पाया जाता है कि नारद ने सनत्कुमार से प्रार्थना की--"सोऽहं भगवः शोचामि, तन्मा-भगवाञ्छोकस्य परं पारं तारयतु" (७।१।३) अर्थात् मैं शोक-सागर में निमग्न हूं मुझे ज्ञान नौका द्वारा शोक समुद्र के पार ले जाइये। प्रार्थित होकर सनत्कुमार ने तपस्या द्वारा क्षीणपाप नारद को अज्ञान के परपार रूप ब्रह्म को दिखलाया था--तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" (७।२६।२) इस पर भी यदि कोई आपत्ति करे कि जैसे भेद ज्ञान प्रमा अर्थात् यथार्थ नहीं है। वैसे ही ब्रह्म और आत्मा का एकत्वज्ञान भी प्रमा नहीं है, क्योंकि ऐक्यज्ञान सम्पदादि रूप होने के कारण भ्रान्त होगा। अल्प आलम्बन (आश्रय) को दूर करके उत्कृष्ट

वस्तु के अभिन्न भाव से ध्यान का नाम सम्पत् (सम्पदुपासना) है।

जैसे मन की वृत्तियां अनन्त हैं, वैसे विश्वदेव भी अनन्त असंख्य हैं। मन की अपेक्षा विश्वदेव उत्कृष्ट हैं। मन और विश्वदेवों के अनन्त सादृश्य के कारण मन को विश्वदेव रूप से सम्पादन कर अभेद भावना रूप उपासना करने से अनन्त फल लाभ होता है। श्रुति में ऐसा कहा गया है—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छान्दोग्य० ३।१८।१) "आदित्यो ब्रह्म इत्यादेशः" (छान्दोग्य० ३।१९।१)। यह जैसे सम्पदुपासना है, वैसे प्रकृतस्थल में जीव और ब्रह्म दोनों चेतन हैं, दोनों परस्पर भिन्न भी हैं, किन्तु दोनों के चेतनत्व सामान्य के कारण जीव में ब्रह्मरूप अभेद भावना का नाम सम्पत् है। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रभृति स्थलों में ऐसी सम्पदुपासना जानना चाहिए, वास्तविक ऐक्य नहीं। 'आरोप्य प्रधाना सम्पत्'—सम्पत्-स्थल में आरोप्य ही प्रधान होता है। शुक्ति में रजत के आरोप स्थल में रजत आरोप्य है। इसी प्रकार मन में विश्व देवों का आरोप होने से विश्व देवगण आरोप्य हैं। जब जीव में ब्रह्म का आरोप हो रहा है, तब ब्रह्म आरोप्य है। इसी प्रकार शालग्राम शिला में विष्णु बुद्धि प्रतिमा में काली, दुर्गा प्रभृति की पूजा भी सम्पद्-उपासना है। सनातन वैदिक हिन्दू लोग प्रतिदिन जो पञ्च देवता तथा कुल देवता की पूजा करते हैं, वह सब सम्पदुपासना ही है। ऐसी उपासना करते करते चित्त को एकाग्रता आती है, अनित्य वस्तुओं में वैराग्य उत्पन्न होता है, हृदय की मलिनता दूर हो जाती है। उसके अन्तर वास्तविक तत्त्व ज्ञान का उदय होता है और तत्त्वज्ञान से मुक्ति अवश्यम्भाविनी है। परन्तु यह उपासना वेद, स्मृति, शास्त्र सम्मत होनी चाहिये। शास्त्रों में जैसा ब्रह्म का रूप कल्पित है, उस रूप का ही ज्ञान कर्त्तव्य है। अपने अभिलाषानुसार रूप की कल्पना वा हठात् नीरूप की उपासना शास्त्र सम्मत नहीं है। 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना'—विविध उपासकों की उपासना के लिये ब्रह्म की रूप-कल्पना है। यहां 'ब्राह्मणः' कर्त्तरि षष्ठी है अर्थात्

ब्रह्मकर्त्तक ब्रह्म की रूपकल्पना की गई है। सुतरां शास्त्रीय मूर्ति तथा कुलपरम्परागत इष्ट देवता की पूजा अवश्य कर्त्तव्य है, यही सम्पदुपासना है।

जो लोग कहते हैं कि वेद में शिव, दुर्गा, काली प्रभृति के नाम नहीं हैं, पुराण बौद्ध युग के बाद रचित हुये हैं, अतएव यह सब उपासना पोपलीला हैं—कर्त्तव्य नहीं है उनके लिये कहना है कि वेद में बहुत स्थलों में सगुण उपासना की कथा आती है (१) वर्त्तमान समय में वही वैदिक उपासना सनातनी हिन्दू लोग करते हैं। वर्त्तमान में वे लोग तन्त्र तथा पुराणादि से गुरु परम्परागत उपास्य देवता का ग्रहण करते हैं। वेद में उपासना का वर्णन है, पुराण और तन्त्र की कथा भी वेद में पायी जाती है, वेदस्थित संक्षिप्त आख्यायिका का ही भगवान वेद व्यास के द्वारा पुराण रूप से प्रचार हुआ है। पुराण, तन्त्रादि वेद की व्याख्या हैं, सुतरां प्रचलित उपासना का वेद सम्मत होना निः संशय है। इस पर भी यदि कहा जाय कि जैसे शुक्ति में रजत ज्ञान भ्रमज्ञान है, वैसे ही शालग्राम आदि में विष्णु प्रभृति की उपासना भी भ्रमज्ञान है, अतः भ्रमज्ञान के समान सपदुपासना हेय क्यों न होगी और उसे शास्त्र में क्यों करणीय कहा गया है? विद्वान् लोग बहुत अर्थव्यय तथा काय-क्लेश सहन करके उसका अनुष्ठान क्यों करते हैं? इसका उत्तर यह है—यद्यपि दोनों स्थलों में एक वस्तु में अन्य वस्तु के आरोप में कुछ भेद नहीं है, तथापि शुक्ति को रजत न जानता हुआ रजत मानकर उसके ग्रहणार्थ धावित होता है, बाद में शुक्ति स्वरूप का ज्ञान होने पर उससे पराङ्मुख होता है। किन्तु परिच्छिन्न शालग्रामशिला व्यापक विष्णु नहीं है—ऐसा जानकर ही उपासक उसमें प्रवृत्त होते हों अज्ञानवश और ज्ञानवश प्रवृत्ति में दोनों का पार्थक्य है। इसके सिवा यह उपासना शास्त्रीय है सुतरां शुक्ति रजत भ्रम के समान निष्फल नहीं है। शुक्ति में रजत बुद्धियुक्त धावित पुरुष रजत को प्राप्त न होकर जैसे हताश हो वापस आता है, शालग्राम में विष्णु बुद्धि करने वाले

वैसे निष्फल नहीं होते, वे शालग्राम में विष्णु बुद्धि के द्वारा चित्त का एकाग्रता प्रभृति फल प्राप्त करते हैं। किन्तु, जीव और ब्रह्मका ऐक्य इस प्रकार की सम्पदुपासना नहीं है उपक्रम, उपसंहार प्रभृति षड्विध लिङ्ग द्वारा--जीव और ब्रह्म एक हैं पार्थक्य केवल उपाधिकृत है – यह निश्चित होता है। सुतरां, ब्रह्म और आत्मा का एकत्व सम्पदुपासना नहीं है। हम जो वैदिक, तान्त्रिक सन्ध्या, पौराणिक पूजा इत्यादि का अनुष्ठान करते हैं, वह सम्पदुपासना है, इसे त्यागकर जो मनुष्य यथेच्छ व्यवहार करता है, उस को कुछ भी फल प्राप्त नही होता। वर्त्तमान युग में इसी सम्पदुपासना का त्याग करने के कारण ही ब्राह्मण नीचों की पाद सेवा कर रहें हैं और घर-घर में दुर्भिक्ष, महामारी, रोग, शोक राज्य कर रहे हैं। जड़-विज्ञानवादी विद्वान् चाहे कितना ही विज्ञान का आविष्कार क्यों न करें, कदापि प्रकृत कारण का आविष्कार न कर सकेंगे, दिन-प्रतिदिन संसार ध्वंस को प्राप्त होगा। यदि भारतवासी मोह त्याग कर अपौरुषेय वेद और तदनुगत धर्म-शास्त्र, पुराणादि के शरणापन्न हों, तन्निर्दिष्ट कार्यों का अनुष्ठान करें, तभी उनका सम्पूर्ण दैन्य दूर होगा, भारत में पुनः सत्ययुग के सदृश समय का आविर्भाव होगा। किन्तु जो लोग नवीन आचार्य बन बैठे हैं, वे भारत का ध्वंस करके अपना कार्य पूरा करेंगे। शस्त्ररहस्यज्ञान हीनता इसका एकमात्र कारण है।

अस्तु, 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्थलोंमें तत् और त्वं पदों में समान विभक्ति हैं। 'इन वाक्यों में जो समान विभक्ति युक्त पद हैं उन सबका तात्पर्य एकत्व में निश्चित है। इत वाक्यों की सम्पदादिरूप से कल्पना करने पर पदसमन्वय रक्षित नहीं होता। एकत्वज्ञान द्वारा अविद्याकल्पित रागादि ग्रन्थि वा अहंकारग्रन्थि विनाश को प्राप्त होती है–"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः" (मुण्डक, २। २। ८) किन्तु सम्पदादिरूप कल्पना करने पर अज्ञान निवृत्तिरूप फल का बाध होता है। सम्पदादि ज्ञान प्रमा न होने के कारण अज्ञाननाश करने

में असमर्थ है। और भी एक बात है, ब्रह्मत्व का सम्पादन करने पर जीव ब्रह्मस्वरूप कैसे हो सकता है ? क्योंकि, पूर्वरूप रह जाने पर वा नष्ट होने पर अन्य वस्तु अन्यस्वरूप को प्राप्त हो नहीं सकती, सुतरां सम्पदादि रूप असंगत है। जीव और ब्रह्म का एकत्वविज्ञान सम्पदादिरूप नहीं है, क्योंकि एकत्वविज्ञान प्रमा — यथार्थज्ञान है और सम्पदादिरूप भ्रमज्ञान है। यह एकत्वविज्ञान यथार्थरूप होने से कृतिसाध्य नहीं है, प्रमाण साध्य भी नहीं है, किन्तु नित्य है।

(५)

मोक्षको मानस क्रियारूप ज्ञान का फल भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि जायमान वृत्तिरूप ज्ञान मन का धर्म है, वह क्रिया है, तथापि वह विधि योग्य क्रिया नहीं है, क्योंकि वह वस्तु के अधीन है, पुरुष की कृतिसाध्य नहीं। क्रिया पुरुष के अधीन रहती है और ज्ञान प्रमाण तथा विषय के अधीन होता है। जो वस्तु-स्वरूप की अपेक्षा न करके विहित होती है, उसे क्रिया कहते हैं। पुरुष कृतिसाध्य प्रमाण तथा वस्तुस्वरूप निरपेक्ष है। इस पर यदि कोई कहे कि जैसे ज्ञान मानस होने से क्रिया नहीं है, वैसे ध्यान भी मन का धर्म होने से क्रिया न होगा। इसका उत्तर यह है कि ध्यान क्रिया के साथ ज्ञान का पार्थक्य बहुत है। पुरुष इच्छा करे तो क्रिया यथेच्छ भाव से कर सकता है, नहीं भी कर सकता, किन्तु ज्ञान के विषय में वैसी बात नहीं है। ज्ञान प्रमा होने के कारण विधि के अधीन वा विधि का विषय नहीं, पुरुष तन्त्र है। अतएव ज्ञान के विषय के साथ ज्ञान का व्यभिचार न होने से एवं ज्ञान पुरुष-तन्त्र न होने से ध्यान से ज्ञान का अत्यन्त भेद है। अग्नि और स्त्री का अभेद न होने के कारण विधिबल से स्त्री का अग्निरूप से ध्यान किया जा सकता है, किन्तु घट का प्रत्यक्ष होने पर उसे पटरूप से नहीं जाना जा सकता। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष ज्ञान विषय-जन्य है, अतः वह विषयाधीन हो सकता है, किन्तु शब्द—जन्य ज्ञान विषय-जन्य न होने से विधेय - क्रियारूप होगा। इसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष के समान

शब्द और अनुमानादि विषयक ज्ञान विधेय-क्रियाजन्य नहीं है, वहां भी प्रमाणवश ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, विधिवश नहीं। इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि "आत्मानं पश्येत्" "ब्रह्म त्वं विद्धि" (केन० १।५) "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" (बृहदा० २।४।५) इत्यादि विज्ञान में विधायक लिङ्, लोट तथा तव्य प्रत्यय श्रुत हैं अतएव ज्ञान विधेय होगा। इसका समाधान यह है कि उसी विज्ञान रूप विषय में विधि पुरुष को प्रवर्तित करने में समर्थ होती है। 'यह आज्ञा मेरे लिये है' ऐसा ज्ञान जिसे रहता है, वही नियोज्य होता है, वही विधि का विषय होता है किन्तु ज्ञान में ऐसा नियोज्य नहीं है, अतः ज्ञान विषय नहीं हो सकता कहा जा सकता है कि ज्ञान में विधि न हो, ज्ञान का ग्राह्य वा त्याज्य विषयीभूत ब्रह्म विहित हो। परन्तु वैसा भी नहीं हो सकता। जो वस्तु नहीं है वही ज्ञान का विषय होती है, उस में विधि नहीं हो सकती क्रिया में ही विधि होती है। हेय या उपादेय वस्तु में विधि होने पर उसका त्याग वा ग्रहण हो सकता है, किन्तु सिद्ध वस्तु तो एक रूप से विद्यमान रहती है, उसका त्याग वा ग्रहण असम्भव है। निरतिशय ब्रह्मकृति साध्य न होने के कारण विधि का विषय नहीं है। ज्ञान विधेय—विधि का विषय—नहीं है, क्योंकि ज्ञान का विषय उदासीन वस्तु है। ज्ञान में विधि करने से प्रवृत्ति वा निवृत्ति कुछ भी फल उत्पन्न न होगा।

कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान में विधि नहीं होती तो "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि विधि बोधक पदों की गति क्या होगी ? इसका समाधान यह है कि लिङ् लोट् तव्य प्रभृति प्रत्ययों के द्वारा आत्म ज्ञान परम पुरुषार्थ साधनरूप से स्तुत होता है। स्तुति के कारण या आत्यन्तिक इष्ट साधन रूप भ्रम के कारण ही हो, मनुष्य शब्दादि विषयों में प्रवृत्त होते हैं, वही विषय प्रवृत्ति आत्मश्रवणादि की प्रतिवन्धक है। विधिपद विषयों से निवृत्त करते हैं—अर्थात् 'श्रोतव्यः' प्रभृति विधिपद विषय प्रवृत्ति का निरोध करके आत्म दर्शन में पुरुष को उन्मुख करते हैं। कहा जा सकता है कि अग्नि

की दाहादि में प्रवृत्ति जैसे स्वाभविक होती है, वैसे आत्मा की भी विषय-प्रवृत्ति स्वाभाविक है, अतः उसका निरोध असम्भव है। इस शंका का उत्तर यह है कि स्वाभाविक देह, इन्द्रियादि की जो प्रवृत्ति है, उसके विषय जो शब्दादि हैं उनसे विधिपद विमुख कर देते हैं। यदि कहा जाय कि अनात्म-दर्शन रहने पर भी आत्मज्ञान हो सकता है, विषय से विमुख करने का प्रयोजन क्या है ? तो इसका उत्तर यह है कि चित्त विषय प्रवण होने पर आत्म दर्शन में कदापि प्रवृत्त न होगा, अतएव आत्म ज्ञान के उपायभूत श्रवणादि में प्रवृत्त कराने के लिये विषयों से चित्त का निरोध करना आवश्यक है। जब तक अद्वैत तत्त्वज्ञान उदित नहीं होता, तब तक साधक क्रिया विधि के अधीन रहता ही है, परन्तु जब अद्वैत ज्ञान समस्त द्वैत का उपमर्द्दन करके उदित होता है, तब द्वैतोपजीवी विधि यहां कैसे रहेगी ? आत्म ज्ञान सम्पन्न पुरुष का कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता यह श्रुति भी कहती है—"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्" (बृहदार० ४।४।१२) अर्थात् मैं परमानन्द स्वरूप परमात्मा हूं—इस प्रकार से जब पुरुष अपने को जान लेता है, तब वह किस फल की कामना से, किस भोक्ता की प्रीति के निमित्त, जराग्रस्त सन्तप्त शरीर का अनुगामी होकर अपने को सन्तप्त करेगा, क्योंकि उस स्थिति में भोक्ता, भोग्य, भोग प्रभृति द्वैत का अभाव हो जाने से आत्मविद् पुरुष कृतकृत्यता प्राप्त कर लेता है। 'आत्मानं चेत्' इस श्रुति में 'चेत्' शब्द द्वारा श्रुति ज्ञान की अत्यन्त दुर्लभता और कदाचित् किसी में उसका आविर्भाव होना घोषित कर रही है।

समस्त विकारों का नाश होने पर जो उसका दृष्टा रहता है, जो नाश की अवधि है और जिसमें विनाश का कोई हेतु नहीं है, वह आत्मा नित्य है। आत्मा अपरिणामी होने से भी हेय नहीं है, क्योंकि वह सर्वविकार रहित है। आत्मा उपादेय भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह निर्विकार है। साध्य वस्तु उपादेय होती है, आत्मा सिद्ध वस्तु

हैं, अतः वह उपादेय नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि आत्मा सब का प्राप्य होने से हेय होगा, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा सबकी काष्ठा अर्थात अवधि हैं, उत्कृष्ट प्राप्तव्य वस्तु है, आत्मा से श्रेष्ठ कुछ नहीं है —"पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" (काठ० १।३।११)आत्मा योग का अङ्ग नहीं, वह अबाधित हैं, प्रमाणान्तर का अविषय है और निखल वेदान्त में स्फुट रूप से ज्ञात होने के कारण एकमात्र वेदान्तवद्य है। इस विषय में यह श्रुति प्रमाण है—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृहदा० ३।६।२६) अर्थात् निखिल वस्तु के अधिष्ठान भूत उपनिषत् प्रतिपाद्य पूर्ण आत्मा के सम्बन्ध में पूछता हूँ।

(६)

"असङ्गो ह्ययं पूरुषः" यह आत्मा देहादिसङ्ग रहित है—यह श्रुति आत्मा के सर्वविध कर्त्तृत्व का निषेध करती है। केवल श्रुति से ही आत्मा का असङ्गत्व ज्ञान होता हो यह बात नहीं, युक्ति द्वारा भी यह प्रतिपन्न होता है। जैसे आत्मा कूटस्थ है, उसके साथ कृति (पुरुष प्रयत्न) का सम्बन्ध न रहने से आत्मा का कर्त्तृत्व भी असम्भव ही है। यदि कहा जाय कि निष्क्रिय वस्तु का भी कारण सन्निधान वश कर्त्तृत्व देखने में आता है। जैसे राजा युद्धादि क्रिया न करने पर भी भृत्यादिगत क्रिया के द्वारा कर्त्ता होता है, वैसे ही आत्मा स्वभावतः निष्क्रिय होने पर भी देहादिगत क्रिया के द्वारा कर्त्ता होगा। इसका उत्तर यह है कि यह दृष्टान्त समीचीन नहीं है क्योंकि राजा स्वयं सक्रिय है, अपने धन द्वारा क्रीत भृत्यों में उसका स्वत्व रहता है और वह उन्हीं भृत्यों का स्वामी भी है। सुतरां भृत्यगत कर्त्तृत्व राजा में होना युक्ति-युक्त है, किन्तु निष्क्रय आत्मा का देहादि के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने से देहादिगत कर्त्तृत्व उसमें नहीं घट सकता। अविद्यारूप भूमि में बीज तथा अङ्कुर के समान देह तथा कर्म का सम्बन्ध भ्रान्तिवश विद्यमान है, इसी कारण देहादि का कर्त्तृत्व आत्मा में उपचारित होता है। ब्रह्मज्ञान न होने तक अविद्या

रहती है। अविद्या के रहने तक भ्रम अवश्यम्भावी है और उस भ्रम के कारण देहादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है। उस अवस्था में अविवेक-वश मनुष्य आत्मा में यागकर्त्तृत्व का आरोप करते हैं। सुतरां कूटस्थ नित्य आत्मा में विधि प्रभुत्व नहीं कर सकता। देहादि उपाधिविशिष्ट आत्मा यजमान अर्थात् यागकर्त्ता होता है, शुद्ध आत्मा कदापि नहीं। अतएव आत्मा का अकर्त्तृत्व नित्यसिद्ध है।

देहादि में आत्मबुद्धि गौण नहीं मिथ्या है। जहां गौण व्यवहार दिखलाई पड़ता है, वहां एक मुख्य वस्तु रहती है। जिसे मुख्य और गौण का भेद ज्ञान रहता हो, वही मुख्य तथा गौणज्ञान का आश्रय होता है। जैसे 'अग्नि र्माणवकः' (ब्रह्मचारी बालक अग्नि है) यहां अग्नि और माणवक का भेद जिसे प्रत्यक्ष है अर्थात् अग्नि दाह करता है, प्रकाश करता है, माणवक उससे भिन्न चेतना पदार्थ है, किन्तु अग्नि के समान प्रभृति धर्म तेजस्विता के सादृश्य के कारण माणवक में अग्नि शब्द का प्रयोग होता है—इस रहस्य को जो जानता है, उसे ही माणवक में अग्नि शब्द का प्रयोग और अग्निज्ञान गौण होंगे किन्तु मुख्य और गौण के भेद ज्ञान से शून्य पुरुष के लिये गौण नहीं हो सकते। परन्तु, देहादि में आत्म शब्द प्रयोग तथा आत्मज्ञान आत्मा और देहादि के भेद ज्ञान के अभाव के कारण होते हैं। सुतरां उस क्षेत्र में देहादि को गौण आत्मा नहीं कहा जा सकता। अल्प अन्धकार में स्थाणु को देखकर उसमें पुरुष शब्द का प्रयोग वा पुरुषज्ञान संशयमूलक होने से गौण नहीं हो सकता। फिर भ्रान्ति-मूलक देहादि में 'आत्म' शब्द का प्रयोग तथा आत्मज्ञान गौण नहीं है इसे क्या कहना ? देहादि से आत्मा को भिन्न जाननेवाले के मतमें देहादि में आम-बुद्धि मिथ्या है, गौण नहीं। अतएव जीवित व्यक्ति भी अशरीर हो सकता है। जीवन्मुक्त व्यक्ति का देह रहजाने पर भी वस्तुतः उसका उसमें अभिमान नहीं रहता। इस विषय में श्रुति स्वयं सर्पकञ्चुक का दृष्टान्त देती हैं—"तद् यथाहिनिल्र्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणः

ब्रह्मैव तेज एव" (वृहदा० ४।४।७) अर्थात् जिस प्रकार सर्प की केंचुली बांबी के ऊपर मृत और सर्प द्वारा परित्यक्त हुई पड़ी रहती है उसी प्रकार यह शरीर भी पड़ा रहता है और यह आत्मा शरीराभिमान-शून्य, अमृत, प्राणयुक्त रहने पर भी स्वयंज्योति ब्रह्मस्वरूप है। यहां दृष्टान्त जीवन्मुक्त पुरुष के शरीर के साथ अत्यन्त सङ्गत है। व्याधि होने पर सर्प पुरातन केंचुली त्याग देता है, वह केंचुली सांप के आकार के अनुरूप होती है। मनुष्य उस केंचुली को देखकर सांप का आकर स्थिर करता है। उसी केंचुली पर यदि कोई आघात करें, तो सांप काटता नहीं क्योंकि सांप को उस केंचुली में अभिमान नहीं रहता, वह उसे अपनी केंचुली समझता है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त व्यक्ति का शरीर रहने पर भी उसमें उसका अभिमान नहीं रहता। अभिमान न रहने के कारण वह दहस्थ होकर भी यथार्थ में अशरीर है। शरीराभिमान ही सशरीरत्व है और अभिमान त्याग ही अशरीरत्व। वस्तुतः आत्मा अचक्षुहोने पर भी वाधित चक्षुरादि की अनुवृत्ति के कारण सचक्षु के समान बोधगम्य होता है। ब्रह्मआत्मा के एकत्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है,सुतरां वेदान्त का प्राभाण्य अव्याहत है। हित उपदेश करने के कारण वेदान्त का शास्त्रत्व भी सिद्ध हुआ। अपौरुषेय होने से वेदान्त निर्दोष है।

इस पर कहा जा सकता है कि यदि अद्वैत ब्रह्म ही निखिल वेदान्त शास्त्र का प्रतिपाद्य है तो द्वैतसापेक्ष विधि-निषेध प्रभृति की गति क्या होगी? विधिवाक्य भी तो वेद के ही हैं, वैदिक विधि तो व्यर्थ कभी नहीं हो सकती। इसका उत्तर यह है कि जब तक अद्वैत ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तब तक विधि प्रभृति का प्रमाण्य अवश्य स्वीकार्य है, उक्त ज्ञान के उत्पन्न होने पर प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण इत्यादि नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञानोदय के पहले समस्त लौकिक व्यवहार अव्याहत रहते हैं। मैं अबाधित पूर्ण आत्मसमूह का साक्षिस्वरूप हूं ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने पर पुत्रादि गौण आत्मा तथा देहादि मिथ्या आत्मा का बाध हो जाता है अर्थात् वे केवल मायाकल्पित हैं ऐसा निश्चय होता है।

उस स्थिति में कार्य अर्थात् विधि-निषेधादि व्यवहार कि। तरह होंगे क्योंकि पुत्र, दारादि के सुख से प्राणी सुखी होता है, उनके दुःख से दुःखी होता है। सुखित्व दुःखित्व प्रभृति गुणों के योग के कारण पुत्र, कलत्र प्रभृति गौण आत्मा हैं, मैं मनुष्य, कर्त्ता, मूढ़ हूं इत्यादि बुद्धि प्राणी की देह में होती है, इसलिए देह मिथ्या आत्मा है। इन दो प्रकार के आत्मा में अभिमान ही सर्वविध व्यवहार का कारण है। उसी अभिमान के न रहने पर हेतु के अभाव से कार्यरूप व्यवहार का भी अभाव हो जाता है।

इस पर भी कहा जा सकता है कि मैं ब्रह्म हूं यह ज्ञान तो बाधित है, क्योंकि प्रमाता अहम्पदार्थ कदापि ब्रह्म नहीं हो सकता। इसका समाधान यह है कि मैं ब्रह्म हूं इस ज्ञान का बाध नहीं होता, क्योंकि आत्मा का प्रमातृत्व अज्ञान का कार्य है, जो अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास होने का कारण होता है। "य आत्मापहत पाप्मा विजरो विमृत्यु र्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः" (छान्दो० ८।७।१) अर्थात, जो आत्मा धर्माधर्मादि रूप पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा और तृषा से हीन है, जो सत्य काम और सत्यसङ्कल्प है, शास्त्र और आचार्य के उपदेशों से उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इत्यादि श्रुति से अवगत होता है कि ज्ञातव्य परमात्मा की अवगति के पूर्व पर्यन्त चैतन्यस्वरूप आत्मा का परमातृत्व सम्भव हो सकता है। परमात्मा ज्ञात होने पर वह प्रमाता ही (आत्मा ही) पाप और रागद्वेषादिदोषविहीन होकर परमात्मस्वरूप हो जाता है। जब आत्मा का प्रमातृत्व अज्ञानकल्पित है, तब प्रमाता में आश्रित प्रमाण प्रभृति का प्रामाण्य कैसे सम्भव होगा? जैसे देह में आत्मज्ञान कल्पित होने पर भी भ्रमरूप होने पर वेदज्ञ पण्डित लोग व्यवहार के अङ्गस्वरूप से उसका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार आत्मज्ञान के उदय होने के पहले तक व्यवहार काल में लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण का व्यावहारिक प्रामाण्य अवश्य स्वीकार्य है।

१८

ब्रह्मज्ञान

जगत् का आदि कारण सर्वव्यापी (अपरिच्छिन्न) है। उस में यदि जात्यादि किसी प्रकार का धर्म स्वीकार किया जाय, तो वह परिच्छिन्न हो जायगा और परिच्छिन्न वस्तु अनित्य होने के कारण वह फिर जगत् का कारण नहीं हो सकती। इस पर शङ्का की जा सकती है कि दिक्, काल तथा आकाश भी तो अपरिच्छिन्न हैं, तब तो वे भी जगत् के कारण हो सकते हैं ?' इसका उत्तर यह है कि नैयायिक आदि के मत से आकाश अपरिच्छिन्न होने पर भी वेदान्तमत से वह परिच्छिन्न ही है, क्योंकि श्रुति में आकाश की भी उत्पत्ति कही गयी है। जिस की उत्पत्ति है, वह अपरिच्छिन्न नहीं हो सकता। आकाश का परिच्छिन्नत्व तथा अनित्यत्व युक्ति वल से भी प्रतिष्ठापित होता है। विभक्तत्व अनित्यगुणाश्रयत्व प्रभृति हेतुबल से आकाश की परिच्छिन्नता तथा अनित्यता प्रतिपादित होती हैं। दिक तथा काल नाम से स्वतन्त्र कोई पदार्थ वेदान्त सिद्धान्त में स्वीकृत नहीं हुआ है। यद्यपि अभ्युपगम न्याय से स्वीकार भी किया जाय, तथापि आकाश की परिच्छिन्नता के समान दिक्काल की भी परिच्छिन्नता एक ही युक्ति से प्रतिपादित होती है। वेदान्त दर्शन, द्वितीय अध्याय तृतीयपाद, प्रथमअधिकरणमें इसपर विस्तृत विचार किया गया है।

जगत्–कारण ब्रह्म शब्दवृत्ति का भी अविषय और मनोवृत्ति का भी अगोचर है, क्योंकि जो किसी वृत्ति का गोचर हो जाय, तो वह परिच्छिन्न ही हो जायगा। इसलिये श्रुति भी कहती है—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति० २।१।४) अर्थात् मन के साथ वाक्य-समूह भी जिसे प्राप्त न होकर निवृत्त हो जाते हैं। यहां शङ्का की जाती

है कि यदि जगत्–कारण ब्रह्म मन और वाक्य का भी अगोचर हुआ, तो "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (इस उपनिषद्—प्रतिपाद्य पुरुष के ही विषय में पूछ रहा हूँ) तथा "दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या" (कठ० १।३।१२) [अग्र्य (संस्कृत) बुद्धि (अन्तःकरण-मन) द्वारा ही वह ब्रह्म दृष्ट (साक्षात्-कृत) होता है], इत्यादि श्रुति वाक्यों तथा "शास्त्र-योनित्वात्" (वेदान्तदर्शन १।१।३, शास्त्र ही उस जगत् कारण ब्रह्म के प्रतिपादक होने से उसकी जगत्कारणता सिद्ध है) वेदान्त दर्शन के सूत्र की उत्पत्ति (सङ्गति) कैसे होती है ? अर्थात् इस सूत्र से जाना जाता है कि शास्त्र ही जगत् कारण ब्रह्मका प्रतिपादक है, सुतरां ब्रह्म वाक्य-गम्य है। उक्त श्रुतिद्वय से भी ज्ञान होता है कि ब्रह्म वाक्य से भी गम्य है, क्योंकि श्रुति ने भी कहा है— 'अग्र्य बुद्धि द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार होता है', यदि मन से भी साक्षात्कार न हो, तो फिर ऐसा कोई कारण भी नहीं है, जिससे कि ब्रह्मसाक्षात्कार हो सके। इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि अविद्या कल्पित सम्बन्धवश शब्दजन्य (वेदान्त वाक्य श्रवण से समुत्पन्न) चरम बुद्धि में परमानन्द तथा बोधस्वरूप शुद्ध चिद्वस्तु प्रतिबिम्बित होने पर कल्पित विद्या तथा अविद्या के कार्य की निवृत्ति होना युक्तिसिद्ध है। सुतरां शुद्ध चित् वस्तु को औपचारिक भाव से शब्द का तथा संस्कृत मत का विषय कहा जा सकता है !

तुरीय ब्रह्म शान्त, शिव, अद्वैत, निर्विशेष तत्त्व है। वह अनिर्देश्य तथा अचिन्त्य है, उसमें ही प्रपञ्च का उपशम होता है। वही 'तत्त्व-मसि' प्रभृति वेदान्तवाक्य का प्रतिपाद्य भी है। "अदृश्यमव्यवहार्य-मग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते, स आत्मा स विज्ञेयः॥" (माण्डूक्य०) की श्रुति उपदेश करती है, इस प्रपञ्च से ही निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान होता है। इस प्रपञ्च की तीन अवस्थायें विचार से मिलती हैं—वे स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—अवस्थायें हैं। जगत् अथवा यह प्रपञ्च जड़ है—इस की स्वतन्त्रसत्ता नहीं है तथा इसमें स्फुरण एवं प्रकाश

भी नहीं है। अथच यह जैसे सत्तावत् तथा स्फुरणशीलवत् प्रतीत होता है। सुतरां जिसकी सत्ता तथा स्फुरण से इस की सत्ता तथा स्फुरण है, उस पदार्थ को इस की सभी अवस्थाओं में अनुगत कहना पड़ेगा। नहीं तो इस जगत् की सत्ता तथा स्फुरण की उत्पत्ति नहीं होती। सत् तथा स्फुरणरूप पदार्थ एक अद्वितीय है, किन्तु इस कल्पित जगत् रूप उपाधिभेद से उस सत् पदार्थ को भी कल्पित भेद युक्त कहना पड़ेगा, अन्यथा सत्ता और स्फुरणहीन जगत् की प्रतीयमानता ही असम्भव होगी। इस लिए श्रुति ने कहा है, यह स्थूल जगत् जिस की सत्ता तथा स्फुरण से सत्तावत् तथा स्फुरणवत् है; यह स्थूल ब्रह्माण्ड ही जिस का शरीर है, वह 'विराट् पुरुष' एवं 'वैश्वानर' नाम से ज्ञेय तथा उपास्य है। इस स्थूल जगत् की सूक्ष्म-अवस्था जिस की सत्ता से प्रतिष्ठित है, जो उस सूक्ष्म जगत् का अभिमानी है, उसे हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, प्राण प्रभृति नामों से जानें और उपासना करें। उसी सूक्ष्म जगत् की ही जो कारण–अवस्था है, अव्यक्त त्रिगुणात्मक मायारूप कारण जिसकी शक्ति से प्रतिष्ठित है, जिसने उसे अधीन कर रक्खा है वह 'अन्तर्यामी', 'ईश्वर' प्रभृति नामों से ज्ञेय एवं उपास्य है। यही तत् पद का वाच्य अर्थ है। यही जगत् की चरम अवस्था है। इससे परे जगत् की सत्ता नहीं। इससे परे जो सर्वसाक्षी प्रपञ्चोपशम तत्त्व है, वही निर्विशेष ब्रह्म है। जगत् की सत्ता और स्फुरण के हेतु स्वरूप वह एक ही अकल्पित चैतन्य जगत् की स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप उपाधित्रय के हेतु वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और अन्तर्यामी अथवा ईश्वर इन त्रिविध कल्पित अवस्थाओं म भासमान है। वह अकल्पित चैतन्य इस उपाधिद्वयविशिष्ट चैतन्य के पार अर्थात् निरुपाधिक भाव से रहने के कारण श्रुति ने उसे 'तुरीय' नाम से निर्देश किया है। जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं के निषेध द्वारा आत्मा का तुरीयस्वरूप स्वतः ही प्रकाशित रहता है। अविद्यावस्था का ज्ञेयत्व लेकर ही तुरीय आत्मा 'विज्ञेय' कहा जाता है।

जिस प्रकार आधिभौतिक तथा आधिदैविक समष्टि-जगत् की तीन अवस्थायें हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् की भी अर्थात् प्रतिजीव देहरूप एक एक व्यष्टि-जगत् के भी तीन विभाग रहे हैं—वे जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति नाम से कहे जाते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में एक ही चैतन्य वर्तमान रहने पर भी अवस्था भेद से उसकी उपलब्धि का स्वरूप भिन्न होने के कारण उसकी भी तीन तीन भागो में विभक्तरूप से कल्पना की गयी है। उन में जो जाग्रत् काल में इस स्थूल देहरूप अन्न-मय कोष का अधिष्ठाता होकर इन्द्रियादि के द्वारा विषयोपलब्धि करता है, श्रुति ने उसे 'विश्व' कहा है। जो स्वप्नकाल में जाग्रत-वासना वासित मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय कोषरूप सूक्ष्म देह का अधिष्ठाता होकर स्वकल्पित तैजस-वासनामय विषयों की उपलब्धि करता है, वह श्रुति में 'तैजस' नाम से कहा गया है। जाग्रत्कालीन विश्व स्वप्नावस्था में लीन हो जाता है और जब सर्व प्रकार की वासना भी लीन हो जाती है—जब विषयोपलब्धि के लिये और कुछ भी उपाय नहीं रह जाता, तब उसी वासनालय का आधार (कारण स्वरूप) जो कारण देह है, उसमें रह कर जो आनन्दमयकोष का अधिष्ठाता होकर आनन्दोपलब्धि करता रहता है—जिस आनन्दोपलब्धि का अस्पष्ट स्मरण सुप्तोत्थित व्यक्ति को होता है, उस आनन्द का जो उपलब्धा है, उसे श्रुति ने 'प्राज्ञ' कहा है। वह 'तैजस' सुषुप्ति के समय में इस प्राज्ञ में लय को प्राप्त होता है। यही अविद्यावच्छिन्न व्यष्टि चैतन्य 'जीव' है, यही 'त्वं' पद का वाच्य है। तत्व-ज्ञानोदय होने से जब यह अविद्यारूपी आवरण हट जाता है, तब वह प्राज्ञ ही निर्विशेष चैतन्यस्वरूपता को प्राप्त होता है, तभी वह तुरीयस्वरूप हो जाता है।

यह तुरीय तत्त्व शब्द से अनिर्देश्य तथा चिन्ता से अतीत है। इसका शब्द से अनिर्देश्य तथा अतीत होने का कारण यह है कि सर्ववस्तुयें ही शब्द द्वारा अभिहित हो सकती हैं, यह सर्वस्वीकृत है। इसलिये

मीमांसकाचार्य कुमारिलभट्ट ने कहा है—"अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" अर्थात् आकाश कुसुमादि अत्यंत असत् वस्तु के विषय में भी शाब्दज्ञान होता है। अधिक क्या, ज्ञान मात्र ही शब्दानुभव-विजड़ित रहता है, जिस किसी विषय में ज्ञान होगा, उसी म ही शब्द अनुगत होकर भासमान रहेगा। इसीलिये वैयाकरण लोग भी कहते हैं—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते" अर्थात् जगत् में ऐसा कोई प्रत्यय (ज्ञान) नहीं है, जिसमें शब्द अनुगत न रहा हो। समस्तज्ञान शब्दानुविद्ध होकर ही भासमान होता है। परन्तु इस प्रकार शब्द की सर्वव्यापकता सिद्ध होने पर भी वस्तु का वैशिष्ट्य निर्देश करने की सामर्थ्य शब्द में नहीं है। 'इदम् ईदृक्' भाव से शृङ्गग्रहितारूप से वस्तुवैशिष्ट्य की पारिचायकता शब्द की शक्ति में नहीं है किन्तु सामान्यरूप से ही शब्द की अभिधायक होती है, साधारण भाव से ही शब्द वस्तु का परिचय दिला सकता है। अलौकिकवस्तु का वैशिष्ट्य निर्देश करना तो दूर की बात है, प्रतिनियत अनभूयमान नित्य-व्यवहार्य वस्तुसमूह का भी जो परस्पर अत्यन्त वैलक्षण्य रहता है, वह भी शब्दकी अभिधेयता के बहिर्भूत है। इक्षु, क्षीर, गुड़ इन सब में माधुर्य है, परन्तु इन की मधुरता में प्रत्येक का भेद भी है। इक्षु की मधुरता कैसी है, दुग्ध का माधुर्य कैसा है—इसे त। स्वयं सरस्वती जी भी प्रकाश नहीं कर सक्तीं। इसीलिये किसी प्राचीन आचार्य ने कहा है—"इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्। तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यपि शक्यते ॥" प्रतिनियत अनुभूयमान लौकिकपदार्थ का स्वातन्त्र्य निर्देश करने में ही जब शब्द की शक्ति कुण्ठित हो जाती है, तब जो अलौकिक तत्त्व है—जो सामान्यरूप नहीं तथा विशेष रूप भी नहीं है, उस निःसामान्य-विशेष वस्तु को शब्द 'इदम् ईदृक्' भाव से कैसे निर्देश करेगा?

अधिक तो क्या, शब्द के अभिधेय पदार्थ चारों भागों में विभक्त हैं। अर्थ के साथ शब्द का वाच्य-वाचकता, प्रत्याय्य-प्रत्यायकता सम्बन्ध रहता

है। अर्थ है वाच्य अथवा प्रत्याय्य और शब्द है उसका वाचक अथवा प्रत्यायक। शब्द और अर्थ का जो यह वाच्य-वाचकता सम्बन्ध है, वह फिर चार प्रकार का सम्बन्ध लेकर प्रवृत्त होता है। अर्थगत चारों प्रकार के सम्बन्ध शब्द की वाचकता के प्रति हेतु अथवा निमित्त हैं। वे चार सम्बन्ध ये हैं—जाति, सम्बन्ध, गुण तथा क्रिया। गो, घट आदि स्थलों में गोत्वजाति या घटत्व जाति ही गो-घट आदि शब्द की अभिधेय होती है। किन्हीं-किन्हीं स्थलों में सम्बन्ध भी शब्द की वाचकता का हेतु होता है। जैसे दण्डी, धनी प्रभृति स्थलों में दण्ड-सम्बन्ध और धन-सम्बन्ध ही शब्द की वाचकता का निमित्त है—अर्थात् वहां दण्ड-सम्बन्ध और धन-सम्बन्ध ही दण्डी, धनी इत्यादि शब्द का वाच्य होता है। इस प्रकार 'शुक्ल, कृष्ण' इत्यादि स्थलों में गुण एवं पाचक, याजक इत्यादि स्थलों में क्रिया ही शब्द की वाचकता का निमित्त होती है। परन्तु शास्त्रप्रतिपाद्य अक्षर तुरीय ब्रह्म निर्विशेषस्वरूप है, सुतरां वह जाति, सम्बन्ध, गुण तथा क्रिया से अतीत है। और भी शब्द और अर्थ का यह जो वाच्य-वाचकता सम्बन्ध है, वह अविद्याकल्पित है। क्योंकि समान जातीय का सम्बन्ध समान-जातीय के साथ ही होता है। शब्द, अर्थ इत्यादि अविद्या के ही विजृम्भण हैं, क्योंकि श्रुति कहती है—"तन्नाम रूपाभ्यां व्याक्रियत" ब्रह्म माया के प्रभाव से नाम तथा रूप में व्याकृत हुआ अर्थात् अभिव्यक्त हुआ। और अक्षर तुरीय ब्रह्म माया के अतीत है, मायाजन्य व्यवहार से शून्य है। इसलिये इस स्थल में अविद्याकल्पित शब्द की वाचकता असम्भव होने से ब्रह्म किसी भी शब्द का वाच्य नहीं होता।

अधिक क्या, शब्द को किसी वस्तु के अर्थ का वाचक होने में कारण यह है कि उस अर्थ के साथ उस शब्द का सङ्केत अथवा अनादि सम्बन्ध रहा है। अर्थ के साथ शब्द का यह सङ्केत प्रमाणान्तर के साहाय्य से ही गृहीत होता है। परन्तु तुरीय ब्रह्म सर्व प्रमाणों से अतीत होने के कारण संकेतग्रह न रहने से भी शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं है। प्रमाणान्तरमूलक उस सम्बन्ध प्रभृति का उस निर्विशेष ब्रह्म को विषयीभूत करना तो दूर

की बात है, सर्वप्रमाणों का तथा सर्वज्ञानों का नियामक मन भी उसका संवाद रखने में नितान्त अयोग्य है, क्योंकि मन है पराक् पदार्थ, वह तो बाह्य जड़ वस्तु रूप पराक्-भूमि में ही नियत घूमता रहता है, वह उस पराक् पदार्थ का स्वरूपतः ग्रहण कदापि नहीं कर सकता। इसी कारण ब्रह्म अचिन्त्यचिन्ता तथा मनोव्यापार के बहिर्भूत है। और भी, प्रत्यक् वस्तु मन की चिन्ता का विषयीभूत होने पर कर्मस्वरूप हो जायगा अर्थात् क्रिया-जन्य फल का अर्थ है—जो नहीं था उसका होना, ऐसा फल जिसमें होता है, वह कर्म है। जैसे घट—पटादि विषयक ज्ञान क्रियाजन्य आवरण भङ्ग तथा प्रकाशोत्पत्तिरूप फल का आश्रय होता है। अर्थात् घटादि विषय समूह अज्ञानवश चैतन्य में कल्पित हैं। उनकी सत्रूप प्रतीति उनकी अपनी निजी सत्ता नहीं है, किन्तु तद—वच्छिन्न (तत्तद्विषयावच्छिन्न) चैतन्य की ही सत्ता है। क्योंकि श्रुति कहती है —" सर्वं खल्विदं ब्रह्म " यह सब ब्रह्म ही है अर्थात् ब्रह्मा—तिरिक्त सत्ता किसी की भी नहीं है, परन्तु सर्वत्र ब्रह्मसत्ता की उपलब्धि न होकर विषय सत्ता की ही उपलब्धि होती है। यह प्रत्यक्ष-उपलब्धि श्रुति विरुद्ध तथा भ्रान्त है। ब्रह्मसत्ता की सर्वत्र उपलब्धि न होने में कारण यह है कि, तत् तत् विषय रूप अज्ञान ही उस चैतन्य को ढँक रखता है। घटादि कल्पित वस्तु समूह अज्ञान का कार्य होने से वे भी अज्ञान स्वरूप ही हैं और दूसरे जड़ होने से प्रकाशविहीन हैं। अन्तःकरण परिणामी है। चक्षुरादि—इन्द्रियों के सक्रिय होने पर अन्तः—करण उन इन्द्रियरूप द्वारों से बाहर विषय देश में उपस्थित होता है। जैसे नदी का जल क्षेत्र में प्रविष्ट होकर वहाँ के आलिवद्ध त्रिकोण, चतुष्कोण आदि भूमिखण्डों के आकार को प्राप्त होता है, वैसे ही अन्तःकरण भी विषय देश में जाकर विषयस्वरूपता को प्राप्त हो जाता है। अन्तःकरण की इस प्रकार की विषयरूपता प्राप्ति ही 'वृत्ति' कही जाती है। यह वृत्ति चिदाभासयुक्त (चैतन्य प्रतिबिम्बयुक्त) होती है। चिदाभासयुक्त वह वृत्ति जब विषय-देश में जाकर विषय

को व्याप्त करती है, तब उसी के (अंतःकरण वृत्ति के) द्वारा विषयावच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञान नष्ट होजाता है, और वह चिदाभास तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य एक होकर इतःपूर्व घट में अप्रकाशमान घटावच्छिन्न चैतन्य को अभिव्यक्ति कर देता है। अर्थात् जड़ (प्रकाशरहित) घट में प्रकाश का आधान कर देता है। इसके फल से घट विषयक ज्ञान होता है। यह है घट की क्रियाजन्य फलाश्रयत्वरूप कर्मता अर्थात् ज्ञानविषयता। इसे ही शास्त्रकारों ने 'फलव्याप्यता' कहा है। परन्तु निर्विशेष तुरीय ब्रह्म उस प्रकार से अन्तःकरण के विषयीभूत होकर प्रकाशरूप फल का आधार नहीं बना सकता, क्योंकि वह तो स्वयं ही प्रकाशस्वरूप है, वह किस के प्रकाश से प्रकाशित होगा ? जिस प्रकार चन्द्रप्रकाश से सूर्य कदापि प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार वृत्ति बल से ब्रह्म का भी प्रकाश नहीं हो सकता। इसीलिए ब्रह्म मन की चिन्ता का भी विषय नहीं है। अपिच, वह निखिल जीवों में प्रमाता—ज्ञाता है, अर्थात् समस्त प्रमाणों एवं समस्त ज्ञानों का कर्त्ता है। अतएव यदि वही कर्म हुआ, तो उस ज्ञान का कर्त्ता (अनुभविता) कौन होगा ? यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह कर्त्ता भी है और कर्म भी है, क्योंकि तब तो कर्मकर्तृविरोधरूप दोष की प्रसक्ति होगी। कर्मत्व है—'क्रियाजन्यफलाश्रयत्व' और कर्तृत्व है— 'क्रियाश्रयत्व'। विभिन्न विषयक ये दोनों एक ही व्यक्ति में स्वीकार नहीं किये जा सकते, क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। सुतरां ब्रह्म को कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं कहा जा सकता। इस कारण ब्रह्म मन का भी विषय नहीं है। इस तरह जब वह मन का भी विषय नहीं, तब उसके साथ शब्द का संकेतग्रह तो सुदूरपराहत हो गया। फलतः संकेताभाव हेतु भी उस शब्द का अभिधेय (वाच्य) नहीं है।

ऐसा सिद्धान्त होने पर यह प्रश्न होता है—यदि ब्रह्म शब्द का अनिर्देश्य अप्रमेय ही हुआ, तो श्रुति में जो कहा गया है कि "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि", "मनसैवानुद्रष्टव्यः", "दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या"

और "शास्त्रयोनित्वात्"—इन सब की सङ्गति कैसे होगी ? इसके उत्तर
में वेदान्तिक आचार्यों ने कहा है कि यह सत्य की विशिष्टता 'इदम् ईदृक्'
भाव से नहीं निरूपित हो सकती, किन्तु इससे यह निश्चय नहीं होता
कि शब्द उस विषय का बोध कराने में पूर्णतया अक्षम रहता है। गुड़
का माधुर्य कहने से वह शब्द एक ऐसा बोध जन्मा देता है, जो
वैशिष्ट्यात्मक स्वरूप का ज्ञान कराने में असमर्थ रहने पर भी, औरों के
साथ उसे सङ्कीर्ण न करके पृथक् कर देता है। सुतरां साक्षात् सम्बन्ध
में वस्तु का स्वरूप न समझा सकने पर भी. अदूरविप्रकर्ष से (कुछ दूर
रह कर) शब्द यह निर्देश कर देता है। इस प्रकार शब्द की बोधकता
को 'लक्षणा' कहते हैं। वैसे तो अभिधा शक्ति से शब्द ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान
नहीं करा सकता, किन्तु लक्षणाबल से वह ब्रह्मस्वरूप को जना देता है।
'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभि-
संविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म" यह श्रुतिवाक्य एक ऐसे पदार्थ
को उपस्थित कराता है, जो ब्रह्म का स्वरूप न रहने पर भी ब्रह्मेतर
अन्यान्य समस्त पदार्थों से उसे पृथक् कर देता है। अतः वही श्रुतिवाक्य
ब्रह्म का तटस्थलक्षण वा उपलक्षण अर्थात् लक्षण बल से ब्रह्म का
स्वरूपनिर्देश कर देता है। ब्रह्मसूत्रकार ने जो ब्रह्म का लक्षणप्रतिपादक
'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र किया है वह भी उक्त श्रुतिवाक्यमूलक है।
अर्थात् उक्त श्रुतिवचन ही उसका विषयवाक्य है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'
इस ब्रह्मलक्षणपरक श्रुति भी लक्षणा के सहारे ही तदर्थ प्रकाशित करती
है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि
महावाक्यसमूह भी लक्षणाबल से ही ब्रह्म का स्वरूप प्रकाश करते
हैं। सुतरां 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिवाक्य के साथ
वेदान्तदर्शन के 'शास्त्र-योनित्वात्' इस सूत्र से कुछ भी असामञ्जस्य
नहीं है।

अब पुनः प्रश्न होता है कि जब ब्रह्म चित्तवृत्ति का विषय नहीं
होता, तब फिर ब्रह्मज्ञान किस प्रकार सम्भव है और 'दृश्यते त्वग्र्यया

बुद्ध्या' इत्यादि श्रुति की मर्यादा भी कैसे रहेगी ? इसके उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार घट-पटादि विषयक ज्ञान में फल व्याप्यता है उस प्रकार ब्रह्मज्ञान में वह नहीं है, क्योंकि घट-पटादि दृश्य वस्तु समूह कल्पित होने से जड़ हैं, उनकी स्वप्रकाशकता नहीं है, वे पर प्रकाश्य हैं—पराधीन प्रकाश हैं। इस हेतु जब वे अन्तर्वृत्ति के ग्राह्य होते हैं, तब वृत्ति के द्वारा तद्गत अज्ञान के नाश और वृत्ति-अवच्छिन्न चैतन्य द्वारा प्रकाश का आधार होने के कारण ही वे प्रकाशित होते हैं। वृत्तिद्वारा केवलमात्र घटगत (घटावच्छिन्नचैतन्यगत) अज्ञान का नाश होने पर ही उनका प्रकाश होगा ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वे जड़ हैं। वृत्ति-चैतन्य द्वारा प्रकाश आधान होने से ही वे प्रकाशित होते हैं—ज्ञानगोचर होते हैं। इसीलिये आचार्यों ने कहा है—"बुद्धि तत्स्थौ चिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्॥" अर्थात् बुद्धि और बुद्धिस्थ चिदाभास दोनों ही वृत्ति के साथ घट देश में जाकर घट को व्याप्त करते हैं, उनमें बुद्धि वृत्ति से घटगत अज्ञान का नाश होता है और चिदाभास से घट का स्फुरण होता है। पक्षान्तर में ब्रह्म अन्तःकरण वृत्ति का भी विषयीभूत होता है किन्तु इस कारण उसमें प्रकाश रूप फल भी आहित होता है यह बात नहीं, क्योंकि प्रदीप क्या सूर्य में प्रकाश जन्मा सकता है ? ब्रह्म है अपराधीन प्रकाश स्वयंप्रकाश या प्रकाश स्वरूप। तब फिर वृत्ति द्वारा उस में नूतनरूपसे कैसा प्रकाश सम्पादित होगा ? ब्रह्म बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होने पर भी वृत्ति देश उसमें किसी प्रकार का प्रकाश वा फल आहित न करने से ही श्रुति ने कहा है—'यन्मनसा न मनुते,' 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह,' इत्यादि। वृत्ति के द्वारा ब्रह्म में किसी प्रकार प्रकाश व फल आहित न होने पर भी जीव में जो ब्रह्मविषयक अज्ञान है उसका तो नाश आवश्यक है, क्योंकि उसका नाश न होने पर, भाण्डादि निहित जल जिस प्रकार भाण्डरूप आवरण भङ्ग न होने से समुद्र में लीन नहीं हो सकता—भग्न होने पर भी भाण्डरूप आवरण रहने के कारण अमिश्रित, स्वतन्त्र दूषित

ही रह जाता है, उसी प्रकार अविद्यारूप आवरण नष्ट न होने से जीव की ब्रह्मरूपता रूप मुक्ति नहीं हो सकती। और यदि ब्रह्म वृत्तिगृहीत नहीं होता तो तद्गत, तदाश्रित, तद् विषयक अज्ञान का भी नाश नहीं हो सकता, क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त से शुद्ध चैतन्य अज्ञान का भी बाधक नहीं है, किन्तु वृत्ति समारूढ़ चैतन्य ही अज्ञान बाधक है। सुतरां अज्ञान-निवृत्ति के निमित्त ब्रह्म की वृत्तिव्याप्यता स्वीकार करनी पड़ती है। इसी कारण आचार्य ने कहा है—"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निजुह्नते। ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ॥" अर्थात् शास्त्रकारों ने ब्रह्म में जो कर्मता का निषेध किया है, उससे ज्ञात होता है कि केवल उसकी फलव्याप्यता ही निषिद्ध है किन्तु ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति के लिए फल की वृत्ति व्याप्यता तो अवश्य ही अपेक्षित है इसलिए ब्रह्मवृत्ति गृहीत न होने पर भी, वृत्ति-जन्य फलाश्रयत्व न रहने से उसे ज्ञान क्रिया का कर्म नहीं कहा जाता, क्योंकि क्रियाजन्यफलाश्रयत्व ही कर्मत्व है। इसी प्रकार वृत्तिव्याप्यता को लक्ष्य करके ही शास्त्रों में कहा गया है—"मनसैवानुद्रष्टव्यः" "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इत्यादि।

अब इसमें यह संदेह हो सकता है कि जब ब्रह्म सर्वगति है—विशेषतः जब वह जीवों के हृदय में 'गुहाशय' 'गह्वरेष्ठ' है, तब अत्यन्त सन्निहित होने पर भी बुद्धि उसे क्यों नहीं ग्रहण कर सकती ? इसका उत्तर यह है कि जैसे पङ्कलिप्त दर्पण सूर्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं कर सकता, सूर्य की ओर रखने तथा सूर्यकिरणों के उससे संश्लिष्ट होने पर भी उसमें जैसे सूर्य प्रतिफलित नहीं होता, वैसे ही अनादिकाल से जो अनन्त विषय वासना पङ्कजीवों के हृदयमुकुर में घन रूप से लिप्त है, उसके अपनयन न होने तक चित्त कदापि उसके प्रतिबिम्बग्रहण के उपयुक्त नहीं हो सकता। संक्षेपशारीरककार ने एक श्लोक में इसे सुन्दर रूप से कहा है—"वाक्योत्थापित बुद्धि वृत्तिरमला यज्ञादिभिर्निश्चला, वेदान्तश्रवणादिभिः स्फटिकवत् स्वच्छस्सती तावकम।

रूपं दर्पणवद् विभर्ति परमं विष्णोः पदं सन्निधेरेतस्मादिह कारणादथ भवेत् संसार वीज क्षयः ॥ अर्थात् साङ्ग वेदाध्ययनपूर्वक निषिद्धवर्जन करके निष्काम भाव से यज्ञादि विहित कर्मकलाप का अनुष्ठान करने पर बुद्धि निष्कलुष होती है, तदनन्तर वेदान्तवाक्यों के श्रवणादि से वह स्फटिकवत् स्वच्छ हो जाती है और तब वह दर्पण के समान अतिसन्निहित, गुहाशय परम वैष्णवपद के धारण करने योग्य होती है और उस से ही संसारबीज अविद्या का क्षय हो जाता है। सुतरां यह सिद्ध हुआ कि चित्त शुद्धि होने पर वेदान्त वाक्य-श्रवणादि से जो प्रमात्मिका (यथार्थ ज्ञान रूपा) चित्तवृत्ति का उदय होता है, उसमें ही वह चिद्वस्तु प्रतिफलित होती है और उसके ही प्रभाव से वह बुद्धिवृत्ति अनादि अज्ञान का विनाश कर डालती है। चित्तवृत्ति में वह चैतन्यात्मक ब्रह्म प्रतिफलित होने पर भी वह फलव्याप्य न होने के कारण किसी भी क्रिया का कर्म नहीं होता—"नैतद् वस्तुनि कल्पितस्य जगतो वाक्यप्रसूतिप्रमा,बुद्धिर्मूलधगिष्यते तव निजस्वाकारमात्रग्रहात् । कर्मत्वं न करोति वाक्यजनिता बुद्धि स्वरूपे तव, स्वाकारग्रहणेन केवलमियं संसारमूलम् दहेत् ॥" (संक्षेपशारीरिक) । इसका अर्थ यह है कि 'नैतत्' अर्थात 'ब्रह्ममेय नहीं है अथच वह वेदान्तप्रतिपाद्य है' इस प्रकार उक्ति व्याहत है—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्त वाक्य-श्रवणादि से जो बुद्धि (स्वच्छ चित्तवृत्ति) का उदय होता है, वह केवल चिद्वस्तु का आकार ग्रहण करके ही—अर्थात् चित्-प्रतिबिम्ब युक्त होकर ही—चिद्वस्तु में कल्पित यह जो जगत् है, उसका 'मूलधक्' मूलीभूत जो अज्ञान है, उसका दाहकारी होता है और वाक्यजनित बुद्धिवृत्ति उसी प्रतिबिम्बित चिद्वस्तु में किसी भी प्रकार से फलाधान न कर सकने से उसकी कर्मता भी नहीं रह सकती अर्थात् शुद्ध चिद्वस्तु क्रियाजन्यफलाश्रयत्वरूप कर्मत्व किंवा और कुछ कारकता को नहीं प्राप्त होती, वह चित्तवृत्ति केवल शुद्ध चित्त का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके ही संसार की मूलाभूत अविद्या का दाह (नाश) कर देती है। एतादृश ब्रह्माकार चित्त-वृत्ति विशेष ही ब्रह्मज्ञान है।

१६

ब्रह्मविद् का स्वरूप

इन्द्रियाराम व्यक्ति स्रक्, चन्दन, वनिता प्रभृति वस्तुओं में रति, मनोऽनूकल अन्नपानादि में तृप्ति तथा पशु-पुत्र-सुवर्णादि के लाभ से एवं रोगादि के अभाव में तुष्टि का अनुभव करता है । उन विषयों के न होने पर भोगासक्त व्यक्तियों की अरति, अतृप्ति तथा अतुष्टि देखी जाती है। रति, तृप्ति और तुष्टि--ये सब मनोवृत्ति विशेष हैं। यह सब साक्षी चैतन्य के द्वारा अनुभूत होती हैं। किन्तु जिसने परमात्मा का आनंद प्राप्तकर लिया है, वह पुरुष द्वैत दर्शन के न रहने से तथा उनको अति मात्र असार समझ लेने से विषय-कामना नहीं करता। उसके निकट कृत अथवा अकृत अर्थात् कर्म करना या न करना दोनों ही निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं। इस सन्बन्ध में श्रुति कहती है--'नैनं कृताकृते तपतः' अर्थात् इसे कृत अथवा अकृत तापित नहीं कर सकता। और यह भी कहा गया है कि उसकी मोक्ष-प्राप्ति में देवगण भी बाधा नहीं डाल सकते, क्योंकि वह सबका आत्मस्वरूप हो जाता है--'तस्यह न देवाश्च ना भूत्या ईशत आत्माह्येषां सम्भवति।' भगवान् श्री वशिष्ठ जी ने सात भूमिकाओं के भेद से अर्थात् अवस्था-भेद से इस प्रकार ब्रह्मविद् व्यक्ति का स्वरूप निरूपण किया है, यथा--ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता । विचारणा द्वितीयास्यात् तृतीया तनुमानसा ।। सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्ति नामिका । पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ।। (योग० उत्पत्ति० ११८-५७६) अर्थात् 'शुभेच्छानामक जो ज्ञान भूमि है,वही प्रथम ज्ञानभूमि है । दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्वापत्ति , पांचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावनी तथा सातवीं तुर्यगा नामक भूमिका कही गई है।' इसमें नित्यानित्य वस्तु विवेकादि

पूर्वक जो मोक्षेच्छा है, जिसके फलरूप में प्रव्रज्या ग्रहण की जाती है, वह है 'प्रथम भूमिका'। उसके अनन्तर यथाविधि गुरूपसदनपूर्वकश्रवण-मननरूप जो वेदान्त-वाक्य का विचार है, वह है—'द्वितीय भूमिका'। गुरूपसन के विषय में श्रुति कहती है--'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'। (मुण्ड० १।२।१२) अर्थात् 'आत्मतत्त्व जानने के लिये मुमुक्षु हाथ में समिधा (उपहार) लेकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के पास जाय।' और--'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्म।' (तैत्तिरीय० ३।१)

अर्थात् 'हे भगवन् ! आप मुझे ब्रह्म तत्त्व का उपदेश कीजिए, यह कहकर भृगु वरुण के शरणागत हुये।' जिसने तत्त्वदर्शन किया है, वही ज्ञान के विषय में उपदेश देने में समर्थ होता है। उपदेष्टा श्री गुरुदेव की सर्वभावेन अनुकूलता करने पर यथार्थ ज्ञान लाभ होता है। केवल ज्ञानोपदेश कर देने से यह असम्भव है। शिष्य का चित्त श्री गुरु के चित्त के अनुकूल होने पर ही श्री गुरुदेव का ज्ञान शिष्य के चित्त में संक्रामित होता है। यही ज्ञान-लाभ का उपाय है। श्री गीता जी में भी कहा गया है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥' (४।३४) अर्थात् आचार्य देव के निकट पहुँच कर दीर्घ नमस्कार द्वारा 'मैं कौन हूँ' 'कैसे बद्ध हुआ हूँ,' कैसे मुक्त हो सकूंगा ?' इत्यादि बहुविषयक प्रश्न द्वारा तथा सर्वप्रकार से उनके अनुकूल कार्य करके निखिल कर्मों के फलस्वरूप ज्ञान लाभ करो। इस प्रकार भक्ति तथा श्रद्धायुक्त नम्रता-विशेष के भाव से अभिमुख होकर पद, वाक्य और न्यायादि प्रमाणों से अभिज्ञ आत्मसाक्षात्कारवान् श्री गुरु जी तुम्हें परमात्म-विषयक साक्षात् मोक्षफलक ज्ञान का उपदेश करेंगे। जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, उसी का ज्ञानोपदेश मोक्षफल में पर्यवसित होता है अर्थात् वही सफल होता है। परन्तु जो पद-वाक्य-प्रमाण-कुशल होने पर भी अर्थात् व्याकरण रूप पद शास्त्र में तथा तर्करूप न्यायशास्त्र में निपुण होकर भी आत्मसाक्षात्कार नहीं

कर सका है, उसका उपदेश फलपर्यवसायी नहीं होता—यह श्रुति-स्मृति का सिद्धान्त है। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः। (कठ०)

गुरूपसन पर्वक श्रवण-मनन रूप वेदान्त वाक्यों का विचार करने के बाद निदिध्यासन रूप अभ्यास के फल से एकाग्रतावश मन को सूक्ष्म करने की जो योग्यता होती है, वह है 'तृतीय भूमिका'। यहां ज्ञातव्य यह है कि मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा श्रवण परिपुष्ट होता है, क्योंकि मनन तथा निदिध्यासन के फल से असम्भावना और विपरीत भावना की निवृत्ति होकर मन की एकाग्रता होती है और इसके फल वेदान्त-वाक्य-विचारात्मक वह श्रवण आत्मदर्शन के रूप में फलोन्मुख हो जाता है। इसलिये वे फलोपकारी अङ्ग हैं, वे आत्मदर्शनरूप फल देने का साक्षात उपकार करते हैं। मननरूप वेदान्तविचार के द्वारा प्रमाण तथा प्रमेयगत असम्भावना की शङ्का निवृत्त हो जाती है। 'वेदान्त-विचार से ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता'-इस प्रकार की शङ्का होना 'प्रमाणगत असम्भावना' है और 'ब्रह्म है या नहीं' 'न होना ही सम्भव मालूम होता है'—इस प्रकार का ज्ञान होना प्रमेयगत असम्भावना है। निदिध्यासन-परिपाक से अनात्मरूप जड़ वस्तु में आत्म बुद्धिरूप जो विपरीत-भावना रहती है, उसकी निवृत्ति होती है और शम, दम, सर्व-कर्म-त्याग, गुरूपसदन प्रभृति, अदृष्ट उत्पादन द्वारा तथा साक्षात् सम्बन्ध में श्रवण के साथ अनुगत रह कर वे उस श्रवण का ही साहाय्य करते हैं, इसलिये वे सामयिक अङ्ग हैं अर्थात् समवेतभाव से उपकार-साधक अङ्ग हैं। जब आत्म-श्रवण करना होगा; तब शम-दमादि साधन युक्त रहना भी आवश्यक होगा; इस कारण उन्हें श्रवण में अनुगत अर्थात् समवेत, सुतरां 'सामवायिक' कहा जाता है और श्रवण ही अङ्गी एवं उपकार्य है। मनन, निदिध्यासन तथा शम-दमादि के द्वारा श्रवण का उपकार होता है; इसलिए वे श्रवण के अङ्ग या उपकारक हैं। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भूमिकायें मोक्ष की साधन स्वरूप हैं। योगीगण इन्हें जाग्रदवस्था कहते हैं, क्योंकि इस स्थिति में अभ्यासी के निकट भिन्न

रूप से जगत् की प्रतीति होती है। अर्थात् इस अवस्था में मुमुक्षु का जगद्विषयक भेदज्ञान लुप्त नहीं होता, अपितु रहता है। योग वाशिष्ठ में कहा गया है—'भूमिकात्रितयं त्वेतद् राम जाग्रदिति स्थितम्। यथावद् भेद बुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते ॥'

इसके वाद वेदान्त-वाक्यश्रवण से ब्रह्म और आत्मा की एकता का जो निर्विकल्पक साक्षात्कार होता है, वह फल रूपा 'चतुर्थी भूमिका' है। वह 'सत्त्वापत्ति' तथा स्वप्नावस्था कही जाती है। उसे स्वप्नावस्था कहने का कारण यह है कि जैसे स्वप्न में प्रतीत होने वाले विषय-समूह मिथ्यारूप से प्रतिपन्न होते हैं, उसी प्रकार इस भूमिका में समस्त जगत् मिथ्यारूप से स्फुरित होता है। कहा भी गया है—'अद्वैते स्थैर्य-मायाते द्वैते प्रशममागते। पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिका मता'॥ अर्थात् 'अद्वैतस्थिरता प्राप्त होने पर और द्वैत निवृत्त होने से चतुर्थी भूमिका में आरूढ़ व्यक्तिगण समस्त व्यवहार स्वप्न के समान देखते हैं।' चतुर्थी भूमिका-प्राप्त यह योगी 'ब्रह्मवित्' नाम से अभिहित होता है।

पञ्चमी, षष्ठी तथा सप्तमी भूमिकायें जीवन्मुक्ति के ही अवान्तर भेद से हैं। उनमें सविकल्प समाधि के अभ्यास से मन निरुद्ध होने पर जो निर्विकल्प समाधि की अवस्था होती है, वह 'असंसक्ति' नाम से अथवा सुषुप्ति नाम से कही जाती है, क्योंकि जैसे सुषुप्ति से लोग स्वयं ही उत्थित होकर जाग्रत् में आते हैं, उसी भांति इस अवस्था से भी मुमुक्षु लोग स्वयं ही (बिना दूसरे के प्रयत्न किये) उत्थित होते हैं। इस प्रकार के योगी ब्रह्मविदों में उत्कृष्ट हैं। तदनन्तर इस अभ्यास की परिपक्वता होने पर जो चिरकालावस्थायिनी सुषुप्ति-अवस्था का आविर्भाव होता है, उसे 'पदार्थाभावनी' नाम से एवं गाढ़ सुषुप्ति नाम से कहा जाता है; क्योंकि योगी व्यक्ति इस अवस्था से स्वयं उत्थित नहीं होता, किन्तु दूसरों के प्रयत्न से ही उठता है अर्थात् व्यावहारिक दशा में आता है। यह ज्ञानी पुरुष ब्रह्मविदों में उत्कृष्टतर होता है। योगवाशिष्ठ में कहते हैं—'पञ्चमी भमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम्। षष्ठीं गाढ़

सुप्ताख्यां क्रमात् पतति भूमिकाम्' ॥ अर्थात् ज्ञानी पुरुष सुषुप्ति नाम से परिचित पञ्चमी अवस्था को प्राप्त होकर फिर क्रमशः गाढ़ सुषुप्ति नामक षष्ठी भूमिका में अधिरूढ़ होता है ।' और जिस समाधि अवस्था से योगी स्वतः अथवा परतः किसी से व्युत्थित नहीं होता, क्योंकि वह सर्व प्रकार के भेद-दर्शन से रहित हो जाता है और सर्वदा केवल तन्मय अर्थात् ब्रह्ममय ही रहता है, ब्रह्मातिरिक्त अविद्याकल्पित स्वातन्त्र्य फिर नहीं रहता और उसके प्राण परमेश्वर के द्वारा ही प्रेरित होने के कारण (अर्थात् ईश्वरेच्छा से प्रारब्ध भोग भुगवाने के कारण शरीर धारण करना अनिवार्य होता है, इसलिये) उसका दैहिक व्यवहार दूसरों के द्वारा ही, निर्वाहित होता रहता है यह अवस्था 'सप्तमी भूमिका' है । इसे तुरीयावस्था कहते हैं । इस अवस्था को प्राप्त हुआ महापुरुष ब्रह्मविदों में उत्कृष्टतम कहा जाता है । इसका कथन योगवाशिष्ठ में इस प्रकार है—'षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् । किंचिदेवैष सम्पन्नस्त्वथवैष न किंचन ॥ विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका । अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा योगभूमिषु ॥' अर्थात् वह योगी षष्ठी अवस्था में रहकर बाद में उसी से फिर सप्तमी अवस्था को प्राप्त हो जाता है । उस षष्ठीभूमिका में वह जीवनमुक्त थोड़ा-सा सम्पन्न होता है अर्थात् कुछ तो बोध भी करता है और कुछ नहीं भी करता । योग की सप्तमी भूमिका ही 'विदेहमुक्ति' कही जाती है, यह अवस्था वाणी से अगम्य है, शान्त-स्वरूप है तथा योगभूमिकाओं में सबकी सीमा अर्थात् चरमस्थान है ।' इसी अवस्था को दृष्टि में रखकर श्रीमद् भागवत एकादशस्कन्ध में कहा गया है—

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा, सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत् स्वारम्भकं प्रति समीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढ समाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्ध वस्तुः ॥
(१३।३६–३७।)

अर्थात् मदिरा मद से लुप्त चैतन्य व्यक्ति जिस प्रकार कटि पर वस्त्र है अथवा गिर गया—इसको नहीं जान पाता, उसी प्रकार वह सिद्ध पुरुष भी दैववश से प्राप्त अथवा दैवक्रम से परित्यक्त इस विनश्वर देहको——यह पड़ा हुआ है अथवा उठा है——यह लक्ष्य नहीं करता; क्योंकि वह स्वरूपप्रतिष्ठ हो जाता है। उसका वह दैवाधीन शरीर भी तभी तक प्राणयुक्त परिदृष्ट होता है, जब तक कि उसका प्रारब्ध कर्म उसे चलाता है। अर्थात् जब तक प्रारब्ध कर्म कार्यक्षम रहता है, तब तक उसका शरीर भी रहता है। उसके बाद जाग्रत् व्यक्ति जैसे स्वप्न भाव का पुनः अनुसरण नहीं करता, उसी प्रकार समाधि-योग में अधिरूढ़ अर्थात असम्प्रज्ञात यानी निर्बीज समाधियोगारूढ़ यह योगी भी सप्रपञ्च (द्वैतविशिष्ट कल्पित) देह को नहीं प्राप्त करता। अर्थात् सुप्त व्यक्ति स्वप्न काल में जिन भावों से आविष्ट होकर व्यवहार करता है जाग्रत् काल में जब बहिर्विषयक ज्ञानोदय से उन स्वप्नदृष्ट भावों का वह मिथ्यात्व अनुभव कर लेता है, तब फिर उन स्वप्नभावों का अनुसरण करके वह तदुपयुक्त व्यवहार नहीं करता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी में भी सर्वदा असम्प्रज्ञात समाधि (निर्बीज समाधि) में स्थित रहने के कारण अन्य आविद्यक संस्कार नहीं रहते। उनसे जो कुछ व्यवहार होता है वह सब प्रारब्ध कर्म का फल ही होता है। उसे प्रारब्ध भोग के लिये ही देह धारण करना पड़ता है। फिर भोग द्वारा प्रारब्धक्षय हो जाने के पश्चात् वह उस शरीर के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। श्रुति में भी कहा गया है—— "तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैव मे वेदँ-शरीरँ-शेतेऽथाय मशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव"। (बृहदारण्यक० ४।४।७) अर्थात् 'जिस प्रकार सांप की केंचुल बाँबी (वल्मीक) पर प्राणहीन परित्यक्त पड़ी रहती है, ठीक उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है। और यह अशरीरी, अमृत प्राण अर्थात् आत्मा है यानी प्राणमय ब्रह्मस्वरूप तथा विज्ञानमय तेजःस्वरूप ही है। अतः वह ब्रह्म ही हो जाता ह।"

२०

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

(१)

जैसे समुद्र के आश्रय से तरङ्ग भासित होता है, रज्जु का आश्रय लेकर कल्पित सर्प भासता है वैसे ही ब्रह्म का आश्रय करके जगत् भासित होता है। ब्रह्म ही अधिष्ठान चैतन्य है। जैसे समुद्र के अतिरिक्त तरङ्ग की पृथक सत्ता नहीं है, रज्जु से भिन्न कल्पित सर्प की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, वैसे ही चैतन्य से भिन्न जगत् की अर्थात् जल, स्थल, आकाश, वायु, मनुष्य, पशु, पक्षी, और पतङ्ग वृक्ष, लता, राग, द्वेष, काम, प्रेम आदि की पृथक सत्ता नहीं है। परमपद चैतन्यसत्ता से अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शिवा, सीता-राम, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण, सूर्य, वरुण, अग्नि, प्रजापति प्रभृति देवता वृन्द की स्वतन्त्र सत्ता कहाँ? इस हेतु श्रुति कहती है---"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि-विश्वे निषेदुः।" इससे सिद्ध होता है कि चैतन्य से भिन्न किसी भी प्रकार की सत्ता कहीं नहीं है। विचार से ज्ञात होगा कि बहिर्जगत् मन में ही अनुभूत होता रहता है और मन का अनुभव कल्पना से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। रज्जु पर कल्पित सर्प के सदृश ब्रह्म पर कल्पित जगत् भासता है। जैसे उस कल्पित सर्प की पृथक सत्ता नहीं रहती, वैसे ही कल्पित जगत् की भी पृथक् सत्ता नहीं है।

अध्यस्त पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता और प्रकाश न रहने से वह अपने अधिष्ठान से एकीभूत होकर ही सत् और प्रकाश शील प्रतीत होता है। अधिष्ठान की सत्ता ही अध्यस्त वस्तु की सत्ता है और अधिष्ठान का प्रकाश ही अध्यस्त वस्तु का प्रकाश है। अध्यस्त होने के कारण इस जगत् की भी प्रथक सत्ता और प्रकाश नहीं है। सत् स्वरूप ब्रह्म की

सत्ता से ही जगत् सत्तावान् प्रतीत होता है और उसके ही प्रकाश से जगत् का भी प्रकाश है अर्थात् माया कल्पित (मनः कल्पित) इस प्रपञ्च की अधिष्ठान स्वरूप चिद्वस्तु सत् होने से ही उस सत् में अध्यस्त जगत् असत् होने पर भी (सत् न होने पर भी) सद्रूप से भासता है। और जगत् का स्फुरण या प्रकाश न रहने पर भी चिद्वस्तु ब्रह्म के प्रकाश से जगत् प्रकाशमान होता है।

भ्रान्तिकाल में रज्जु में सर्प देखा जाता है, परन्तु वह सर्प रज्जु स्वरूप का त्याग नहीं करता। केवल भ्रान्ति दृष्टि मनुष्य को ही रज्जु सर्प रूप से प्रतीत होती है। यद्यपि एकमात्र तुरीय ब्रह्म ही विराज रहा है, तथापि अज्ञानतिमिरान्ध जीव की भ्रान्त दृष्टि में वह अद्वितीय ब्रह्म ही नाना नाम-रूप द्वारा भेद को प्राप्त होकर जगदाकार में प्रतिभात होता है। जब तक अज्ञान रहता है, तब तक वह देश, काल, कार्य, कारण प्रभृति भ्रम का प्रसव करेगा ही। अज्ञान निद्रा के टूट जाने पर देश, काल, कार्य, कारण, फल, प्रश्नकर्त्ता, अहङ्कार आदि विभाग एक हो जाते है। इस पर श्रुति ने कहा है—"यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं शृणुयात्, तत् केन कं अभिवदेत्" अर्थात् जिस स्थिति में सभी कुछ आत्मस्वरूप भासता है, द्वितीय कुछ भी नहीं रह जाता, उस स्थिति में दूसरों का अभाव होने से कौन किस से देखेगा, किस से किसे सुनेगा, किस से किसे कहेगा? इत्यादि।

सङ्कल्प सूत्र में समस्त भाव अर्थात् सम्पूर्ण ग्रथित पदार्थ हैं। सङ्कल्प वस्तु के अर्थात् कल्पना सूत्र के विच्छिन्न हो जाने पर सब पदार्थ न जाने कहां विशीर्ण हो जाते हैं? रज्जु पर आरोपित सर्पभाव के नष्ट होने पर सर्प कहां जाता है इसे कौन कहे? सङ्कल्प अर्थात् कल्पना से असत्, सत् और सदसत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जिसकी विद्यमानता नहीं है, वह असत् है, जो विद्यमान है, वह सत् है और कभी विद्यमान कभी अविद्यमान पदार्थ सदसत् हैं। ये सभी सङ्कल्प से उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति

में सङ्कल्प की सत् या असत् रूप से कल्पना नहीं की जा सकती। अतः परमार्थ सत्यस्वरूप ब्रह्म के सन्निकट सङ्कल्प नहीं रह सकता। ब्रह्म तो असङ्ग है—"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" उसके साथ सङ्कल्पादि पदार्थों का सङ्ग कैसे हो सकेगा ? इस लिये सिद्ध होता है कि सङ्कल्प में सत्ता, असत्ता या सत्ता-असत्ता कोई भी धर्म नहीं है। जिस जिस विषय का जैसे जैसे सङ्कल्प किया जाता है, क्षण भर में सङ्कल्प वही बन जाता है, अतः कुछ भी सङ्कल्प न करते हुये सङ्कल्प वर्जित रह कर यथा प्राप्त व्यवहार करने चाहिये। सङ्कल्प का क्षय होने पर जीव ब्रह्म हो जाता है अर्थात् अपने स्वरूप अद्वितीय तत्त्व में स्थित हो जाता है—"क्षये सङ्कल्प जालस्य जीवो ब्रह्मत्वमाप्नुयात्।"

यह परिदृश्यमान जगत् सङ्कल्प के सिवा और कुछ नहीं है। सङ्कल्प के अतिरिक्त पुरुष का दूसरा दुखः भी नहीं है। पूर्व भावना न होने पर सङ्कल्प नष्ट हो जाते हैं। सङ्कल्पनाशार्थ सचेष्ट रह कर 'मैं चैतन्य हूँ, पूर्ण ब्रह्म हूँ और सभी माया मिथ्यामात्र है" ऐसे दृढ़ भावनारूप तत्त्वाभ्यास के साथ योगालम्बन से" आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्" इस स्थिरत्व की प्राप्ति के निमित्त नियमित अभ्यास करना चाहिये। सङ्कल्प नाश अर्थात् वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान अर्थात् विज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का एक साथ अभ्यास करते रहने से इसी जीवन में जीवन्मुक्तिता हो जाती है—"वासनाक्षय विज्ञान मनोनाशा महामते। समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदामताः॥"

जैसे मृगतृष्णा में जलभ्रान्ति के उपशम के लिये मरुमरीचिका का ज्ञान आवश्यक होता है, वैसे ही मृगतृष्णिका के सदृश जगत् भ्रान्ति के निवारण के निमित्त एकमात्र चैतन्य का ज्ञान ही आवश्यक होता है, इतर कोई भी अनुष्ठान वहाँ उपयुक्त नहीं है। वह चैतन्य दूर भी नहीं है, निकट भी नहीं है—वह अपनी आत्मा ही है, सदा अनन्तर साथ रहता है। किसी कर्म द्वारा इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। फल द्वारा

कर्म सफल होता है, किन्तु आत्मा स्वयं फलरूप होने से उसे फल द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। कण्ठ में हार पड़ा है, उसे विस्मृत होकर इधर-उधर ढूंढ़ा जा रहा है। विस्मृत कण्ठहार की प्राप्ति के समान वह चैतन्य ज्ञानलभ्य है। स्मरण मात्र से वह सुलभ है। अपने आनन्दाभासरूप इस चैतन्य को नित्य स्मरण कौशल से अपने देह में ही प्राप्त किया जा सकता है। तपस्या, दान, व्रत इत्यादि इस चैतन्य वस्तु की प्राप्ति के असाधारण साधन नहीं हैं। स्वरूप में विश्रामलाभ के अतिरिक्त और कुछ भी आत्मस्थिति का उपाय नहीं हो सकता।

मोहजाल त्यागना पड़ेगा, भ्रम ज्ञान दूर करना पड़ेगा। जगत् मृगतृष्णिका नहीं है—केवल इसी भावना से काम न चलेगा, अपितु चैतन्य के अखण्ड स्मरणपूर्वक उसमें स्थिति प्राप्त कर जगत् का अभाव देखकर उसे मिथ्या जानना पड़ेगा। चैतन्य के विस्मरण के कारण ही चैतन्य में स्थिति नहीं होती। कण्ठ में हार है इसका स्मरण सर्वदा रखना चाहिये। स्मरणमात्र से स्वदेह में ही वह मिलता है। स्वदेह में जब सर्वदा उसका स्मरण रहेगा, तभी ईश्वर द्वारा जगत् आच्छादित बोधगम्य होगा, "ईशावास्यमिदं सर्वम्" यह ज्ञान भासेगा, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस ज्ञान का उदय होगा। भ्रम से ही ईश्वर जगद्रूप दिखलायी पड़ता है। स्थिर जल की भावना करते रहने पर तरङ्ग फिर तरङ्ग रूप नहीं देखा जाता, मृत्तिका का चिन्तन करते रहने पर घटादि का आकार फिर नहीं रह जाता, सब मृत्तिका रूप से ही दृष्ट होने लगते हैं, वैसे ही अपने भीतर चैतन्य की भावना दृढ़ कर लेने पर फिर जगत् नहीं देखा जाता, भ्रम दर होने के साथ ही साथ भीतर-बाहर एकमात्र चैतन्य ही भासने लगता है।

केवल जप, तप या ध्यान से दृश्य का विनाश अर्थात् अदर्शन नहीं होता। दृश्य आत्माश्रित अज्ञान का विजृम्भण कल्पना है, अतः आत्माश्रित अज्ञानके विनाश से ही दृश्यदर्शन मिटता है। पहले कर्मार्पण द्वारा इष्टदेव को प्रसन्न करना चाहिये। उनकी कृपा से विचार का उदय होता है।

विचार के सिवा यहाँ दूसरा मार्ग ही नहीं है। जब तक दर्शनकर्त्ता रहेगा, तब तक उसमें दृश्यबुद्धि बनी ही रहेगी। जीवभावापन्न चिदात्मा जिस स्थिति में, जहाँ भी क्यों न रहे, उसमें दृश्यबुद्धि अवश्य रहेगी। अपने को परमात्मभाव से भावित करने पर फिर भी कुछ भी भय नहीं रह जायगा। परमपदभावना से भावित होकर गायत्री जपना चाहिये, विष्णुभावना से भरपूर होकर विष्णु पूजा करनी चाहिये, रामभावना से भरित होकर श्रीरामचन्द्र को भजना चाहिये, कृष्णभावना से कृष्णमय होकर कृष्ण नाम जपना चाहिये, शिवभावना से शिववपु बनकर शिवजी को पुकारना चाहिये, क्यों कि कहा गया है—"अविष्णुः पूजयेद् विष्णुं न पूजाफलभाग् भवेत्।" "ज्ञात्वा वैश्वानरं देवं सोऽहमात्मेतिभावयेत्"। "भ्रु वोर्मध्येऽन्तरात्मानं भारूपं मनसालोक्य सोऽहं स्याम्"। "शिव एव स्वयंभूत्वा सोऽहत्मामेति या बुद्धिः।" "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्।" इससे परोक्षज्ञान अपरोक्षानुभूति में परिणत हो जायगा। इष्टकृपा से विचार बुद्धि खुल जायगी, विचार द्वारा अज्ञान दूर होगा और तब स्वरूप विश्रान्ति होकर जन्म-जीवन सफल होगा।

जो कुछ देखा जाता है, वह आत्मा ही है—इस ईश्वर भावना द्वारा दृश्यदर्शन त्यागना होता है। इस लिए विचारना होता है कि आत्मा में ही प्रपञ्च भास रहा हैं। परन्तु जो कुछ भास रहा है, वह एक आकारमात्र है, नाम-रूप छाया मात्र है। नाम, रूप, आकार ये ग्रहण योग्य वस्तुयें नहीं ह। जैसे तरङ्ग जल के सिवा दूसरा कुछ नहीं है वैसे ही ईश्वर से भिन्न नाम-रूप विशिष्ट जगत् भी मायामात्र ही है, माया ही ईश्वर को इतर रूप से दिखला रही है भ्रमज्ञान के त्यक्त होने पर देखा जाता है कि एक मात्र अखण्ड आत्मा ही विराज रहा है परन्तु यदि विचार किया जाय कि सूर्य ईश्वर है, चन्द्र ईश्वर है, आकाश ईश्वर है, वायु ईश्वर है, मनुष्य ईश्वर है, पशु,पक्षी,कीट, पतङ्ग,वृक्ष,लता सभी ईश्वर हैं, तो कभी भी अज्ञान—बहुत्व ज्ञान नष्ट

होकर अद्वैतज्ञान लाभ न हो सकेगा । चित्तनिरोध करने पर भी चिरकाल के लिए दृश्यदर्शन लुप्त नहीं होता । दृश्यदर्शन मिथ्या है, भ्रान्ति का परिणाम है—इस बोध के दृढ़ न होने तक और किसी भी उपाय से चित् की चेत्यता अर्थात् विषयोन्मुखता का अनुरोध नहीं किया जा सकता । दृश्यमात्र असम्भव है, इन्द्रजाल तुल्य मिथ्या है इस बोध के सिवा जगद्व्याधि उपशम न होगा । रूपहीन आकाश में जैसे नील पीतादि रूप देखा जाता ह । वैसे ही चिन्मय ब्रह्म में यह मिथ्या जगत् देखने में आता है इस बोध को दृढ़ करना चाहिए । इस बोध को दृढ़ करने के लिए विचारना होगा कि प्रलय में एकमात्र चैतन्य ही रहता है ये सब जो देखने में आ रहे हैं, नहीं रहते, नहीं थे, ये सब भ्रमदृष्ट हैं । उस समय जो रह जाता है अथवा था, वह बोधस्वरूप आत्मा है उस अखण्ड बोध स्वरूप पर वह मायिक जगत् भासता है । इस दृष्यदर्शन मार्जन के लिए कहा गया है—"यदिदं दृश्यते किंचित् तन्नास्तीति भावय । यथा गन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले ॥"

विचार होता है कि समय जगत् है और देखा जा रहा है—यह जो कहा जाता है, यह स्वप्न मध्यगत कथनमात्र है । आत्मातिरिक्त जगत् नामक कुछ है ही नहीं और देखने में भी नहीं आ रहा है, जो देखा जा रहा है, वह आत्मा ही है—इस भावना को अभ्यास योग से दृढ़ करना चाहिये । अपने भीतर चैतन्य को जानकर, चैतन्य ही द्रष्टा है, चैतन्य ही भासता है' ऐसा भाव रखने से शनैः शनैः दृश्यमान मिटकर सर्वत्र चैतन्य ही भासित होता है । परन्तु यदि "चिन्मात्र चेतनं विश्वमिति यज्ज्ञानवानसि । न किंचिदेव विज्ञातं भवता भवनाशम्" (योग वा०, उत्पत्ति प्रकरण ७ । ६) अर्थात् इस विश्व को ही यदि चेतन रूप मान लिया है, तो तुमने अपने भवरोगनाश का कोई भी उपाय न जान पाया । विश्व मिथ्या है, भ्रान्ति का परिणाम है—इस प्रकार निश्चयपूर्वक इसे मिथ्या

जानकर अपने भीतर चैतन्य को पूर्ण जानना चाहिये, अपने भीतर चैतन्य को पकड़कर उसमें तन्मय हो सकने से सङ्कल्प के साथ मन का नाश हो जायगा और तब दृश्य दर्शन मिट जायगा। देखने की वस्तु न रहने से द्रष्टा भी न रहेगा, दर्शन का भी अभाव होगा। इस रीति से दृश्य-दर्शन-जगद्दर्शन-उपशम को प्राप्त होने पर ब्रह्मभाव में स्थिति प्राप्त होती है। अपने भीतर चैतन्य को प्राप्त होकर जब साधक समाधिस्थ रहता है, तब वह कुछ भी नहीं करता, कुछ भी नहीं सोचता, आत्मानन्द में विभोर--मस्त रह जाता है। उस समाधि से व्युत्थित होने पर "ईशावास्यमिदं सर्वम्" आपसे आप भासने लगता है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ज्ञान का उदय हो जाता है। ज्ञान सूर्य के प्रकाश से ऐसा निश्चय हो जाता है कि यह सब आत्मा ही है--"आत्मैवेदं सर्वम्"। इसका अन्तर भी नहीं है और बाह्य भी नहीं है--"अनन्तरमबाह्यम्"। यह माया उपाधि के कारण बाह्याभ्यन्तर सहित भी है, परन्तु यथार्थ में अज, अजर, अमर, अमृत-मरण रहित अर्थात् जन्मादि षड्विकार-रहित है और अभय रूप है--"स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽमरोऽमृतोऽभयः!" इस प्रकार आप ही आप आत्मा का दृढ़ निश्चय होने से द्वैतसमूह की निवृत्ति पूर्वक ज्ञात होता है कि एकमात्र अद्वितीय आत्मा ही विराजमान है-- "एक एवाद्वयः," "सर्वं खल्विदं ब्रह्म।"

आत्म दर्शन का फल

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥" (मुण्डकोपनिषद् २।२।८) । इस श्रुति में 'पर' शब्द का अर्थ है कारणरूप से श्रेष्ठ नित्य ब्रह्मादि और 'अवर' शब्द का अर्थ है कार्यरूप से निकृष्ट व परिणामी मनुष्यादि । तथा च 'परावर' शब्द का अर्थ हुआ सर्वात्मक ब्रह्म अर्थात् निर्गुण-सगुण ब्रह्म । उसका दर्शन होने पर अर्थात् अपरोक्षभाव से साधक के आत्म चैतन्य से अभिन्न रूप से वह परमात्मास्वरूप साक्षात्कृत होनें पर अथवा 'पर' पर शब्द का अर्थ है देह से बाहर नाम-रूपात्मक निखिल वस्तुओं में, कल्पित सर्प के आधारभूत रज्जुवत् व्याप्त होकर विराजमान सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा और 'अवर' शब्द का अर्थ है देहाभ्यन्तर-स्थ अहङ्कारादि दृश्य पदार्थों से पृथक् तथा 'मैं' प्रत्यय का आलम्बन स्वरूप केवल प्रत्येक चैतन्यरूप साक्षी नामक जीवात्मा । जो 'पर' है वही 'अवर' है अर्थात् जीवात्मा से अभिन्न परमात्मा । एवञ्च पर तथा अवर-विभाग के अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्य अर्थात् परावर-विभाग-रहित तथा स्वगतादि भेद रहित जो कूटस्थ शुद्ध चैतन्य है, वह परिपक्व निदिध्यासन से प्रत्यक्षीभूत होने पर - लब्धसाक्षात्कार तत्त्वज्ञ की अर्थात् आत्मद्रष्टा अधिकारी की 'हृदयग्रन्थि' अर्थात् 'अहङ्कार' एवं अपरोक्ष रूप से साक्षी के परस्पर तादात्म्य से दोनों का स्वरूप मिलित होने से मिश्रित स्वरूप 'हृदयग्रन्थि' विदीर्ण हो जाती है । 'हृत्-अयम्' शब्द द्वारा जो तादात्म्य सूचित हुआ है वही ग्रन्थिवत् बन्धन-हेतु होने से 'ग्रन्थि' कहा जाता है । 'अनुभूति प्रकाश' (६।६७) में कहा गया है कि "अहङ्कारस्य कर्तृत्वं चित्यध्यस्य यथाचितः । स्फूर्ति चाङ्कृतौ ग्रन्थिं कुर्यान्मायातयोर्दृढम् ॥" अर्थात् अहङ्कार का कर्तृत्व चैतन्य में अध्यास करके तथा चैतन्य का स्फुरण अहङ्कार में अध्यस्त करके माया

ने दोनों की एक सुदृढ़ ग्रन्थि रच डाली है। आवरण रूपिणी माया का कार्य यह अहङ्कार नामक हृदयग्रन्थि अर्थात् बुद्धिस्थ अविद्यावासना—सुख-दुःख, राग-द्वेषादि-विदीर्ण हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार हृदय ग्रन्थि विदीर्ण होने पर उस आत्मद्रष्टा साधक के आत्म-विषयक सर्वसन्देह जो कि अहङ्काररूप मूल को आश्रय करके रहते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। परमार्थतः मेरी ही ब्रह्मरूपता है या नहीं ब्रह्म,-रूपता का साक्षात्कार किया है या नहीं, साक्षात्कार होने पर भी इसके बाद मेरा कोई कर्तव्य अवशिष्ट है या नहीं, कर्तव्य न रहने पर भी अब मैं जीवन्मुक्त हूँ या नहीं, जीवन्मुक्त होने पर भी देहपात के बाद मेरी श्रुत्युक्त विदेहमुक्ति होगी या नहीं, विदेहमुक्ति होने पर भी कालान्तर में पुनः जन्म होगा कि नहीं—इत्यादि संशयसमूह भी छिन्न हो जाते हैं अर्थात् परावर-दर्शनरूप शस्त्र द्वारा संशयरूप पापसमूह खण्डित हो जाते हैं। परावर दर्शनान्तर एक बार संशयराशि विनष्ट होने कर्म-बश पुनः उसका आविर्भाव नहीं होता, क्योंकि उस लब्ध साक्षात्कार पुरुष के पुण्यपापरूप सञ्चित समस्त कर्म स्वस्वफलोत्पादनन करके ही विनष्ट हो जाते हैं। ज्ञानावस्था में प्रमादकृत भी कोई कर्म संश्लिष्ट नहीं होता। परावरदर्शन देहारम्भनिवारक होने से भी वर्तमान देहारम्भ काल में परावरदर्शन न होने से परावरदर्शन द्वारा वर्तमान देह का निरोध सम्भव नहीं होता। इसीलिये कहा गया है —"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये।" (छान्दोग्य० उप० ६०, १४०।२) अर्थात् आत्मदृष्टा को तब तक ही मोक्ष में विलम्ब रहता है, जब तक प्रारब्ध कर्म क्षय नहीं होते, प्रारब्ध क्षय के बाद अर्थात् देहपात के साथ ही वह तत्त्वज्ञ बिमुक्त हो जाता है। "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।" (श्वेताश्व० उप० १।१०) और अन्त में विश्वमाया की भी निवृत्ति हो जाती है अर्थात प्रारब्धकर्म क्षय होने से देहेन्द्रियादि कार्यों का कारण नहीं रहता, अतः देहेन्द्रियादि निवृत्त हो जाते हैं। और आगे उत्पन्न नहीं होते।